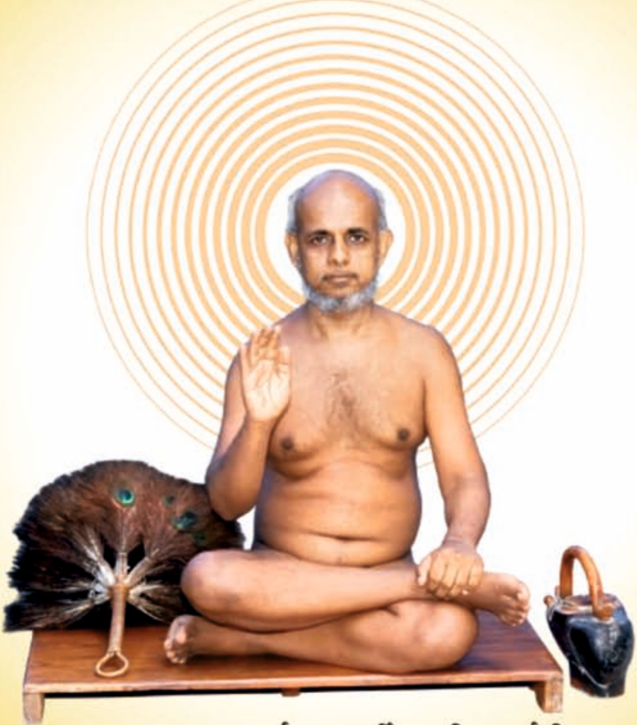

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

जैनदर्शन में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) मतिज्ञान और केवलज्ञान की विभावना

लेखक

नगीन जी शाह

प्रकाशक

संस्कृत-संस्कृति ग्रन्थमाला-८

अहमदाबाद (गुजरात)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

जैनदर्शन में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन), मतिज्ञान और केवलज्ञान की विभावना

लेखक
नगीन जी. शाह

संस्कृत-संस्कृति ग्रन्थमाला ८
सामान्य सम्पादक
नगीन जी. शाह

जैनदर्शन में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन), मतिज्ञान और केवलज्ञान की विभावना

लेखक
नगीन जी. शाह

भाषान्तरकार
डॉ. सनत्कुमार रंगाटिया

संस्कृत-संस्कृति ग्रन्थमाला ८
सामान्य सम्पादक
नगीन जी. शाह

Title : JAIN DARŚANA MEṀ ŚRADDHĀ (SAMYAGDARŚANA), MATIJÑĀNA AUR KEVALAJÑĀNA KĪ VIBHĀVANĀ
Author : Nagin J. Shah
Subject : Philosophy, Religion, Jainism, Indian Philosophy
Language : Hindi

प्रकाशक :
डॉ. जागृति दिलीप शेठ, पी.एचडी.
B-14, देवदर्शन फ्लेट, नहेरुनगर चार रस्ता,
आंबावाडी, अहमदाबाद-380015.

मुद्रक :
के. भीखालाल भावसार
श्री स्वामिनारायण मुद्रण मंदिर
3, विजय हाउस, पार्श्व टावर,
नवावाडज, अहमदाबाद-380013.
Ph. 7432464

सितम्बर, 2000

मूल्य : पचास रुपये

प्राप्तिस्थान :

(1) सरस्वती पुस्तक भंडार
112, हाथीखाना, रतनपोल,
अहमदाबाद-380001.

(2) पार्श्व पब्लिकेशन्स
निशा पोल, झवेरी वाड,
अहमदाबाद-380001.

सम्पादकीय

संस्कृत-संस्कृति ग्रन्थमाला के आठवें पुस्तक के रूप में 'जैनदर्शन में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन), मतिज्ञान और केवलज्ञान की विभावना' नामक लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को विद्वानों और जिज्ञासुओं के समक्ष रखते हुए मैं आनन्द की अनुभूति कर रहा हूँ।

जैनदर्शन की तीन मूलभूत समस्याओं का निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। अपने धर्म-दर्शन को ठीक से समझने के लिए पर धर्म-दर्शनों का अध्ययन कितना आवश्यक है यह इस लघु ग्रन्थ से पाठकों को ज्ञात होगा। 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' इस उक्ति का इस ग्रन्थ में गम्भीरतापूर्वक अनुसरण किया गया है, अतः ग्रन्थ प्रमाणभूत बन गया है। धर्म-दर्शन में मनन की, तर्क की कितनी बडी प्रतिष्ठा है इस की प्रतीति पाठकों को यह लघु ग्रन्थ कराता है। तदुपरान्त, मनन, चिन्तन, तर्क का सुचारु प्रयोग भी इस ग्रन्थ में किया गया है। साथ ही साधार नूतन अर्थघटन भी पद पद पर उपलब्ध हैं।

आशा ही नहीं किन्तु पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक जैनदर्शन के एवं भारतीय दर्शन के अध्येताओं और जिज्ञासुओं को लाभप्रद, विचारप्रेरक और रसप्रद होगी।

नगीन जी. शाह
सामान्य सम्पादक

संस्कृत-संस्कृति ग्रन्थमाला
23, वालकेश्वर सोसायटी
आंबावाडी,
अहमदाबाद-380015.

प्रस्तावना

भारतीय धर्म-दर्शनों का मुझे पहले से ही आकर्षण रहा है। उसमें उन के सिद्धान्तों को जानने समझने में और एक दूसरे पर डाले गये प्रभाव को निष्कर्ष के रूप में नीकालने में मुझे बड़ा आनन्द मिलता रहा है। एक दूसरे के चिन्तन का एक दूसरे ने दिए प्रतिभावों की परम्परा से एक दूसरे का जो विकास हुआ है उन्हें समझने के लिए मैंने जो प्रयास किया है उससे मुझे अमूल्य प्राप्तियाँ हुई हैं। दृष्टि के खुलने के लिए और समग्र का दर्शन करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी था। किसी एक परम्परा के मूल धर्मग्रन्थों या सिद्धान्तग्रन्थों के हार्द को समझने के लिए अन्य परम्पराओं के धर्मग्रन्थों एवं सिद्धान्तग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है, इस बात को मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ। इसकी कुछ झांकी इन तीन व्याख्यानों में होगी।

प्रथम व्याख्यान जैनदर्शन में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) की विभावना को प्रस्तुत करता है। श्रद्धा की जैन विभावना को समझने के लिए औपनिषदिक और बौद्ध परम्परा में श्रद्धा का जो ख्याल है उसे जानना कितना आवश्यक है इसका विस्तार से निदर्शन किया गया है। दूसरे व्याख्यान में जैन मत में मतिज्ञान का स्वरूप कैसा है और उसमें जैन प्रमाणशास्त्र निर्माण करने में जैन चिन्तकों ने कैसा प्रयास किया है उन्हें दिखा कर मतिज्ञान मूलतः औपनिषदिक और बौद्ध परम्परा में स्वीकृत दर्शन (श्रद्धा), श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन चार आध्यात्मिक सोपानों में से तीसरा सोपान मनन ही है इसी बात की तर्कपुरस्सर स्थापना की है। तीसरे व्याख्यान का विषय केवलज्ञान है। केवलज्ञान यह रागरहित विशुद्धज्ञानमात्र ही है किन्तु उस पर जैनों ने सर्वज्ञत्व का आरोप कर कर्मसिद्धान्त के घातक आत्यन्तिक नियतिवाद का गर्भितरूप से स्वीकार कर लिया है इसी महत्त्वपूर्ण बात की प्रधानतः चर्चा की गई है। तथा सर्वज्ञत्व के स्वीकार में आने वाले दोषों का गहनता से सविस्तर विचार किया गया है।

शेठ भोलाभाई जेशिंगभाई अध्ययन-संशोधन विद्याभवन की शेठ पोपटलाल हेमचन्द अध्यात्म व्याख्यानमाला में जनवरी 19-20-21, 2000 के दिन ये तीनों व्याख्यान देने का मुझे जो अवसर मिला उससे मुझे प्रसन्नता हुई।

भो.जे. अध्ययन-संशोधन विद्याभवन ने इन व्याख्यान देने का निमन्त्रण दे कर मुझे जो अवसर प्रदान किया एतदर्थ मैं इस विद्याभवन के नियामक डॉ. भारतीबेन शेलत और गुजरात विद्यासभा के मंत्री डॉ. चिनुभाई नायक का अत्यन्त आभारी हूँ। साथ ही गुजराती भाषा में दिये गये एवं प्रकाशित किये गये इन व्याख्यानों का हिन्दी भाषा में अनुवाद करवा कर प्रकाशित करने की जो अनुमति दी उसके लिए भी मैं उनके प्रति मेरा कृतज्ञभाव प्रगट करता हूँ। डॉ. सनत्कुमार रंगाटियाजी ने इन व्याख्यानों का हिन्दी में भाषान्तर किया एवं पं.श्री रूपेन्द्रकुमार पगारियाजी ने हिन्दी भाषान्तर को पढकर उपयोगी सूचन दिये, अतः इन दोनों सहायक मित्रों का मैं हृदयपूर्वक आभार मानता हूँ।

23, वालकेश्वर सोसायटी,
आंबावाडी,
अहमदाबाद-380015.
अगस्त 15, 2000

नगीन जी. शाह

विषयानुक्रम

सम्पादकीय

प्रस्तावना

व्याख्यान

1.	जैनदर्शन में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) की विभावना	1-25
	जैन धर्मसम्प्रदाय	1
	जैनदर्शन को समझने के लिए अन्य दर्शनों का अध्ययन आवश्यक	3
	चार आध्यात्मिक सोपान	4
	बौद्ध धर्म में श्रद्धा और श्रद्धा की भूमिकाएँ	6
	जैनदृष्टि सम्मत श्रद्धा (सम्यग्दर्शन)	9
	जैन मत में श्रद्धा के विषय	12
	जीव	13
	अजीव	16
	आस्रव	18
	बन्ध	18
	संवर	19
	निर्जरा	19
	मोक्ष	19
2.	जैनदर्शन में मतिज्ञान	26-46
	चार सोपान एवं मत्यादि ज्ञानपंचक	26
	जैन प्रमाणशास्त्र निर्माण करने के लिए मनन का मतिज्ञान में परिवर्तन	26
	मतिज्ञान के प्रकार	27
	इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति आदि को मतिज्ञान के एक ही वर्ग में रखने का कारण	29
	मतिज्ञान में श्रुत का समावेश क्यों नहीं ?	29
	मतिज्ञान का निमित्तकारण और मनन का निमित्तकारण	30
	मतिज्ञान के अवग्रहादि भेद	31
	मतिज्ञान के अवग्रहादि भेदों में अव्यवस्था और मनन	32
	अवग्रहादि भूमिकाएँ मनन की है	33
	अवग्रहादि के बहुग्राही आदि भेद और मनन	34

व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह का सही अर्थघटन 35
श्रुतज्ञान व मतिज्ञान के क्रम एवं विषय 36
प्रमाणलक्षण 37
मतिप्रकार परोक्ष प्रमाण 38
इन्द्रियप्रत्यक्ष 38
स्मृति 38
प्रत्यभिज्ञा 39
तर्क 40
अनुमान 41
उपसंहार 44

3. जैनदर्शन में केवलज्ञान 47-64
केवलज्ञान के स्वरूप की स्थिर हुई जैन मान्यता 47
सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिए दिये गये प्रमुख तर्क 47
सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों का खोखलापन 48
'केवलज्ञान' पद का अर्थ 50
केवलज्ञान पर सर्वज्ञत्व का आरोप क्यों ? 51
वीतरागता और धर्मज्ञता के विरुद्ध सर्वज्ञत्व की हानिकर प्रतिष्ठा का प्रतिकार 56
सर्वज्ञत्व और कर्मसिद्धान्त का परस्पर विरोध 57
ज्ञान का आनन्त्य स्वतः ज्ञेयानन्त्यनिरपेक्ष 59
महावीर को सर्वज्ञ मानने से धर्महानि 59
निर्मोही का अल्पज्ञेयों का ज्ञान भी पूर्णज्ञान 60
अन्य तर्कदोष 60
सर्वज्ञ का अर्थ क्या होना चाहिए 61
उपसंहार 62

प्रथम व्याख्यान

जैनदर्शन में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) की विभावना

जैन धर्मसम्प्रदाय

जैन धर्म अनादि-अनंत है। उस का आविर्भाव-तिरोभाव होता है। जब वह तिरोहित होता है, ग्लानि प्राप्त करता है तब उसे पुनरुज्जिवित करने के लिए अवतारी पुरुष होते हैं। वे पुरुष दुःखमुक्ति के मार्गरूप जैन धर्म को पुनः प्रकट करते हैं। ये वीतरागी अवतारी पुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर जैन धर्म के स्थापक नहीं हैं, किन्तु नवजीवन प्रदाता, व्याख्याता-प्रचारक-उपदेशक हैं। जैन धर्म का तत्त्व सनातन है। उस का पूर्णतः नाश नहीं होता, अपितु सङ्कोच-विस्तार होता रहता है। क्षीणता प्राप्त धर्मतत्त्व में नवचेतना भरने का कार्य तीर्थंकर करते हैं। जैन धर्म की तरह अन्य धर्म भी यही बात कहते हैं। तत्त्वतः प्रत्येक धर्म का कथन सत्य है। तीर्थंकर के लिए 'जिन' शब्द का भी प्रयोग होता है।

संस्कृत मूल धातु जि (जीतना) से 'जिन' शब्द व्युत्पन्न हुआ है और आध्यात्मिक दृष्टि से उस का अर्थ होता है - 'वह व्यक्ति जिसने रागद्वेष पर विजय प्राप्त की है।' प्राचीनकाल में अनेक श्रमण सम्प्रदाय अपने रागद्वेषमुक्त प्रकृष्ट धर्मोपदेशकों के लिए 'जिन' शब्द का प्रयोग करते थे। अर्थात् उस काल में उस शब्द का प्रयोग उसके यौगिक अर्थ में होता था। कालान्तर में अन्य सम्प्रदायों ने 'जिन' शब्द का प्रयोग अपने रागद्वेषमुक्त प्रकृष्ट धर्मोपदेशकों के लिए करना छोड़ दिया और केवल एक ही सम्प्रदाय-विशेष ने अपने रागद्वेषमुक्त प्रकृष्ट धर्मोपदेशकों के लिए 'जिन' शब्द का प्रयोग जारी रखा। परिणामतः उस शब्द का अर्थसङ्कोच हुआ और वह रूढ अर्थ में एक ही सम्प्रदायविशेष के रागद्वेषमुक्त प्रकृष्ट धर्मोपदेशकों के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, एवं वह सम्प्रदाय खुद 'जिनसम्प्रदाय', 'जिनशासन' और 'जैन धर्म' आदि नामों से पहेचाना जाने लगा और उस के अनुयायी 'जैन' नाम से पहेचाने जाने लगे। सामान्यतः ऐसा अनुमान है कि इस रूढ अर्थ में 'जिन' शब्द का प्रयोग करीब ई. आठवी-नवमी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ।[1] इस से पूर्व यह सम्प्रदाय 'निर्ग्रन्थ' शब्द से पहेचाना जाता था। बौद्ध पिटक के समय में मात्र इस सम्प्रदाय की पहेचान के हेतु 'निर्ग्रन्थ' शब्द रूढ हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु ऐसा अनुमान करना स्वाभाविक है कि एक काल ऐसा होगा जब इस शब्द का प्रयोग उस के यौगिक अर्थ में व्यापक रूप में होता होगा। उस का यौगिक अर्थ है-'ग्रन्थि (गाँढ) रहित'। ग्रन्थि के दो प्रकार हैं-रागद्वेष

की आन्तरिक ग्रन्थि और वस्त्र की बाह्य ग्रन्थि। ऐसा माना जाता था कि वस्त्र की बाह्य ग्रन्थि का राहित्य रागद्वेष की आन्तरिक ग्रन्थि के राहित्य को सूचित करता है। अतः वस्त्र की बाह्य ग्रन्थि के राहित्य को आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्व दिया जाता था। वस्त्र की बाह्य ग्रन्थि का राहित्य माने नग्नता। इस प्रकार 'निर्ग्रन्थ' शब्द का यौगिक अर्थ है 'नग्न' और किसी भी सम्प्रदाय के नग्न साधु के लिए मूलतः उस शब्द का प्रयोग होता होगा। हम जानते हैं कि भारत में प्राचीन काल में अनेक सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते थे। नग्नता की आध्यात्मिक प्रतिष्ठा थी। प्राचीन ग्रीसवासी भी भारतीय साधु के लिए 'gymnosophist' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ भी 'नग्न साधु' होता है।[2] किन्तु किसी एक ही सम्प्रदायविशेष के साधुओं के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग कब से रूढ हुआ यह कहना कठिन है। अतः बौद्ध पिटक पूर्व प्राचीन काल के सन्दर्भ में 'निर्ग्रन्थ' पद के अर्थघटन में अत्यन्त सचेत रहना चाहिए। निस्सन्देह, पिटक काल से यह शब्द किसी एक ही सम्प्रदायविशेष के साधुओं का, जिनको वर्तमान काल में हम जैन सम्प्रदाय के साधु कहते हैं उन्ही का, वाचक है। ऋग्वेद में वातरशना मुनियों का वर्णन प्राप्त है।[3] 'वातरशना मुनि' का अर्थ 'नग्न मुनि' स्वाभाविक है, अतः वातरशना मुनियों को 'निर्ग्रन्थ मुनि' कहते हैं। दशम शती के कश्मीरी पण्डित चक्रधर ने जयन्त भट्ट विरचित 'न्यायमञ्जरी' की 'न्यायमञ्जरीग्रन्थिभङ्ग' नामक अपनी टीका में **'मुनयो वातरशनाः'** को समझाते हुए लिखा है : **वात एव रशना वासो ग्रन्थनं येषां ते वासरशनाः, अतो वाससोऽभावादेव वातस्तेषां रशना, अत एव निर्ग्रन्था भण्यन्ते**।[4] परन्तु इसे आधार मान कर 'वातरशना मुनि जैन मुनि थे' कहना कहाँ तक उचित है ? यहाँ तक कह सकते हैं कि वातरशना मुनि श्रमण मुनि थे, क्योंकि विशेषतः श्रमण सम्प्रदाय के मुनि नग्न रहते थे, अतः श्रीमद् भागवत में स्पष्टतः कहा है : **वातरशनानां श्रमणानाम्**।[5] निष्कर्षतः वातरशना मुनि केवल यौगिक अर्थ में निर्ग्रन्थ माने जाय, रूढ अर्थ में नहीं।

जैन आगम स्वीकार करते हैं कि मुक्ति के लिए वीतराग बनना ही अनिवार्य है, बाह्य क्रियाकाण्ड आदि नहीं, और इस से किसी भी सम्प्रदाय का व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है। उन्हों ने अन्यलिङ्ग सिद्धों का स्वीकार किया है।[6] अन्यलिङ्ग सिद्धों के स्वीकार में जैनों का औदार्य अन्यलिङ्ग तीर्थंकर के स्वीकार की ओर सरलता से लेजा सकता है। जिन का उपदेश रागमुक्ति का असरकारक मार्ग दिखाता हो, उन को तीर्थंकर के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति होनी नहीं चाहिए। पुरातन पुरुष ऋषभदेव वीतरागी योगी-तपस्वी थे। उन को विभिन्न परम्पराओंने अवतारी

पुरुष के रूप में स्वीकार किया है। इसी प्रकार जैन परम्पराने उनको तीर्थंकर के रूप में अपनाया हो यह संभवित है। यदि हिन्दु परम्परा-हिन्दु पुराण-बुद्ध को अवतार के रूप में अपना सकते हैं तो जैन आगम भी ऋषभदेव को तीर्थंकर के रूप में क्यों नहीं अपना सकते ? एक वस्तु ध्यान देने योग्य है कि जैन ऋषभदेव को आदिनाथ भी कहते हैं और नाथ सम्प्रदाय के प्रथम सिद्ध भी आदिनाथ है। जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के 'पार्श्व' नाम की काल्पनिक उपपत्तियां (खुलासा) जैन परम्परा में उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में हम एक नयी सम्भावना की ओर निर्देश करते हैं। प्राचीनकाल में सामान्यतः जातिनाम से व्यक्ति को पहचानने की प्रथा थी। तदनुसार बुद्ध शाक्यपुत्र के रूप में और तीर्थंकर महावीर ज्ञातृपुत्र के रूप में पहचाने जाते थे। उसी प्रकार 'पार्श्व' नाम का अर्थ ही है पर्शुपुत्र-पर्शुजातिविशेष का पुत्र। पाणिनि ने पर्शु जाति का उल्लेख किया है (५.३.११७)। 'पर्शोः अपत्यं पुमान् पार्श्वः'। जैनों की चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता एवं ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विशेष संशोधन अपेक्षित है।

जैनदर्शन को समझने के लिए अन्य दर्शनों का अध्ययन आवश्यक

किसी भी तत्त्वज्ञान या चिन्तनधारा का विकास अन्य तत्त्वज्ञानों से बिलकुल विच्छिन्न केवल अवस्था में नहीं होता है। अतः किसी भी तत्त्वज्ञान को समझने के लिए उस के साथ में अस्तित्व में रहे अन्य तत्त्वज्ञानों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि जैन केवल जैन आगमों एवं जैन ग्रन्थों के अध्ययन तक अपने को सीमित रखते हैं और उपनिषद, बौद्ध ग्रन्थों आदि में निरूपित तत्त्वज्ञानों की उपेक्षा करते हैं तो वे अपने तत्त्वज्ञान को भी कदापि सम्यक् समझ नहीं सकते। भिन्न भिन्न तत्त्वज्ञानों में कुछ न कुछ सत्य अवश्य होता है। उन सभी आंशिक सत्यों को जान कर समझकर, उनका योग्य समन्वय करके पूर्ण सत्य को पाना चाहिए, ऐसा माननेवाले अनेकान्तवादी जैनों के लिए तो यह धर्मादेश है कि उन को जितना हो सके उतने अधिक से अधिक दर्शनों का - भारतीय एवं भारतीयेतर - अध्ययन करना चाहिए और उनका समन्वय कर के पूर्णसत्य को प्राप्त करने में प्रयत्नशील होना चाहिए। इसलिए महान जैन मर्मी आनंदघनजी कहते हैं-

षड्दरसन जिनअंग भणीजे न्यायषडंग जो साधे रे।
नमि जिनवरना चरणउपासक षड्दर्शन आराधे रे ॥१॥
..... लोकायतिक कूख जिनवरनी ॥४॥

'षड्दर्शन' तो केवल उपलक्षण है, उस से जगत् के सभी दर्शन समझना चाहिए। अनेकान्तवादी जैनों को किसी भी दर्शन का चाहे वह चार्वाक या कार्ल मार्क्स का भौतिकवादी दर्शन ही क्यों न हो उसका अनादर नहीं करना चाहिए।

श्रद्धा (सम्यग्दर्शन)

चार आध्यात्मिक सोपान

उपनिषद्विद्या अध्यात्मविद्या है। उसी प्रकार, बौद्ध और जैन धर्म-दर्शन भी प्रधानतः अध्यात्मविद्या है। तीनों में आध्यात्मिक साधना के उपर बल दिया गया है। उपनिषदों में आध्यात्मिक साधना के चार सोपान इस प्रकार हैं-दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन (=ध्यान=विज्ञान)। **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः** (बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.५)। यहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'श्रद्धा' है। छान्दोग्य उपनिषद् (७.१८-१९) में कहा गया है : **नामत्वा विजानाति, मत्वैव विजानाति...नाश्रद्दधन् मनुते श्रद्दधदेव मनुते...**अर्थात् मनन के बिना विज्ञान सम्भव नहीं है और श्रद्धा के बिना मनन सम्भव नहीं है। इस प्रकार यहाँ श्रद्धा, मनन और विज्ञान तीन क्रमिक सोपान बताये गये हैं। पश्चात् इसी उपनिषद् (७.२५) में महत्त्वपूर्ण वाक्यखंड आता है : **'एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्'**। यहाँ स्पष्टतः दर्शन, मनन और विज्ञान ये तीनों क्रमिक सोपानों का उल्लेख है। दोनों त्रिकों के निरीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों त्रिक जिन तीन सोपानों का निर्देश करते हैं वे एक ही हैं। प्रथम त्रिकमें जिस सोपान के लिए 'श्रद्धा' शब्द प्रयुक्त है, उसी ही सोपान के लिए द्वितीय त्रिक में 'दर्शन' शब्द प्रयुक्त है। यह निर्णयात्मक रूप से दिखाता है कि उक्त चार सोपानों में से प्रथम सोपान दर्शन श्रद्धा ही है। परन्तु टीकाकार और आधुनिक विद्वान गलती करते हैं जब वे यहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'साक्षात्कार' करते हैं और कहते हैं कि आत्मसाक्षात्कार करना चाहिए, जो आत्मसाक्षात्कार के उपाय हैं-श्रवण, मनन और ध्यान। विवरणप्रमेयसङ्ग्रह का निम्न श्लोक इसका उदाहरण है।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयः एते दर्शनहेतवः॥

बौद्ध धर्म-दर्शन भी इन चार आध्यात्मिक सोपानों का स्वीकार करता हुआ प्रतीत होता है। मज्झिमनिकाय (१.१३६) में ऐसा वाक्य आता है : **यं पिदं दिट्ठं सुतं मुतं विञ्ञातं पत्तं...मनसा तं पि नेतं मम, नेसोहं अस्मि, न मेसो अत्ता ति**। यहाँ उपनिषद् निरूपित दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान का उल्लेख है। यह वाक्य प्रदर्शित

करता है कि इन चार सोपानों के स्वीकार करने में बौद्धों को आपत्ति नहीं है, उन की जो आपत्ति है वह तो चार सोपानों के विषय के रूप में प्रस्तुत की गई आत्मा के प्रति है। आत्मा के स्थान पर धर्म या सत्य होता तो उनको कुछ आपत्ति न होती। धर्म क्या है या सत्य क्या है वह ढूंढने का काम साधक पर छोड़ देना चाहिए। सुत्तनिपात (८३९) में कहा गया है कि : **'न दिट्ठिया न सुतिया न ञाणेन...ति भगवा विसुद्धिं आह, अदिट्ठिया अस्सुतिया अञाणा...नोपि तेन।** (न तो दर्शन से, न तो श्रवण से या न तो ज्ञान से विशुद्धि होती है, ऐसा भगवानने कहा हैं; न तो अदर्शन से, न तो अश्रवण से या न तो अज्ञान से विशुद्धि होती है, ऐसा भगवानने कहा है।) जो कि जहाँ दर्शन, श्रवण ओर ज्ञान का उल्लेख है तथापि ज्ञान में मनन और विज्ञान दोनों का समावेश समझा जा सकता है। इस विधान का तात्पर्य यह है कि धर्म या सत्य को ग्रहण करने में समर्थ चित्तविशुद्धि की प्राप्ति के हेतु दर्शन (श्रद्धा) आदि उपाय आवश्यक होने पर भी पर्याप्त नहीं हैं। संभवतः बौद्ध इन चार आध्यात्मिक सोपानों की योजना में शील का गर्भित की अपेक्षा स्पष्ट उल्लेख की इच्छा रखते हैं।

जैन आगमों में प्राचीनतम आचारांगसूत्र (४.१.९) में **'दिट्ठं सुतं मयं विण्णायं'** यह वाक्यखण्ड प्राप्त है। वह भी उपनिषद् में उल्लिखित उन्हीं चार सोपानों का निर्देश करता है। उपरांत, जैनोंने 'रत्नत्रयी' के रूप में उन चार सोपानों का स्वीकार किया है। उन की रत्नत्रयी हैं-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। वे स्पष्टतः बताते हैं कि इन तीनों के सम्मिलन से मोक्षमार्ग बनता है।[7] साधक प्रथम दर्शन प्राप्त करता है, पश्चात् ज्ञान और अन्ततः चारित्र। वे दर्शन का अर्थ श्रद्धा करते हैं।[8] सम्यग्ज्ञान में श्रुतज्ञान और मतिज्ञान समाविष्ट हैं।[9] श्रुतज्ञान और मतिज्ञान मूलतः श्रवण और मनन है। उपनिषदों में भी मनन के लिए 'मति' शब्द प्रयुक्त है। बृहदारण्यक उपनिषद् (२.४.५) का यह वाक्य गौर से देखें : **मैत्रेयि ! आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।** पूज्यपाद तत्त्वार्थसूत्र की अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में दो स्थानों पर 'मति' शब्द का अर्थ 'मनन' करते हैं : **'मननमात्रं वा मतिः'** (१.९) और **'मननं मतिः'** (१.१३)। इसकी विशेष चर्चा मतिज्ञान विषयक व्याख्यान में की जायगी। चारित्र और कुछ नहीं किन्तु चतुर्थ सोपान निदिध्यासन ही है। निदिध्यासन ध्यान है और जैन ध्यान को उत्कृष्ट प्रकार का आभ्यन्तर तप मानते हैं। इस दृष्टि से निदिध्यासन को चारित्र मान सकते हैं। उपरांत, ध्यान को चारित्र की चरम सीमा मान कर यमादि से प्रारम्भ होती हुई ध्यान की समग्र प्रक्रिया में चारित्र का समावेश माना जा सकता है। किन्तु जैन शुद्ध आचार पर विशेष बल देना चाहते हैं, अतः निदिध्यासन

के स्थान पर चारित्र का स्पष्ट उल्लेख करके चारित्र के भीतर निदिध्यासन का समावेश करना उन्हों ने उचित समझा। इस प्रकार प्रस्तुत चार सोपान ही जैनों के तीन मोक्षोपाय, जैनों की रत्नत्रयी हैं।

बौद्ध धर्म में श्रद्धा और श्रद्धा की भूमिकाएँ

बौद्ध धर्म में सम्मादिट्ठि और श्रद्धा समानार्थक है। आध्यात्मिक साधना और आध्यात्मिक गुणों के मूल में श्रद्धा है। आर्य अष्टांगिक मार्ग का वह प्रथम अंग है। निर्वाण के हेतु जिन गुणों की पुष्टि-वृद्धि आवश्यक मानी गई है उन गुणों की यादी में श्रद्धा का स्थान प्रथम है। बौद्धों द्वारा की गई श्रद्धा की व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह इस प्रकार है : **'श्रद्धा चेतसः प्रसादः'** (अभिधर्मकोशभाष्य २.२५)[10]। संस्कृत कोशग्रन्थों में भी श्रद्धा के इसी अर्थ को संगृहीत किया गया है। परन्तु प्रसाद का अर्थ क्या है ? उस का उत्तर है-**प्रसादोऽनास्रवत्वम्**। (स्फुटार्था ८.७५)। **यद्धि निर्मलं तत् प्रसन्नमित्युच्यते**। (अभिधर्मदीपवृत्ति पृ. ३६७)। इस प्रकार श्रद्धा का अर्थ है चित्तशुद्धि। राग चित्तमल है। यह मल दूर होने से चित्त विशुद्ध होता है। चित्त का स्वभाव तत्त्वपक्षपात है।[11] परन्तु उस का यह स्वभाव मतासक्ति, मताग्रह, दृष्टिराग से आवृत हो गया है, हानिग्रस्त हो गया है। राग के इस आगन्तुक आवरण को दूर किये जाने पर वह स्वभाव प्रकट होता है। परम्परा से या जन्म से प्राप्त मान्यताओं, सिद्धान्तों और धारणाओं के प्रति जो रागभाव है उस से मुक्त होने के परिणाम स्वरूप जो चित्तशुद्धि प्राप्त होती है, वह चित्तशुद्धि ही श्रद्धा से अभिप्रेत है। ऐसी चित्तशुद्धि प्रत्येक सत्यशोधक के लिए आवश्यक है, क्योंकि ऐसा शुद्ध चित्त ही सम्मुख आये सत्य को ग्रहण करने की योग्यता एवं क्षमता रखता है। इस चित्तशुद्धि के अर्थ में श्रद्धा को हम निराकार कह सकते हैं। उसमें कोई विषयसंभार नहीं है। यहाँ मात्र तत्त्वपक्षपातरूप मानसिक झुकाव है, सत्यप्रवणता है। यह हकीकत है कि जिन मतों, धारणाओं और सिद्धान्तों के मध्य मनुष्य जन्म लेता है और पलता है, उनको वह बिना परीक्षण स्वीकार कर लेता है, इतना ही नहीं उनको अपने चित्त की इतनी गहराई में रख लेता है कि वे उसके व्यक्तित्व का एक हिस्सा बन जाता है[12] और उन धारणाओं से अपने आपको मुक्त करना उसके लिए अति कठिन बन जाता है। अतः मनुष्य के लिए सर्वाधिक दुष्कर कार्य है उनके प्रति के राग से अपने आपको मुक्त करना। इसीलिए हेमचन्द्राचार्य कहते हैं-**दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेदः सतामपि**। (वीतरागस्तोत्र)। रागमल के दूर होने से प्राप्त चित्तशुद्धि और परिणाम स्वरूप प्रकट हुई सत्यप्रवणता ही श्रद्धा है। श्रद्धा की यह भूमिका श्रवण के पूर्व होती है।

रागमुक्त होकर आवश्यक चित्तशुद्धि प्राप्त करके साधक, सत्य और परमार्थ की प्राप्ति के दावेदार आध्यात्मिक गुरु के पास जाता है। वह उन के पास नम्रता, विनय और आदरपूर्वक जाता है।[13] परन्तु उन के पास जाने से पूर्व, उसे परीक्षण करके जान लेना चाहिए कि वास्तव में वे आध्यात्मिक गुरु कहलाने की योग्यता रखते हैं या नहीं। वे लोभी, द्वेषी या मोहाविष्ट तो नहीं हैं ? वे ढोंगी, ठग और स्वार्थी नहीं हैं ऐसा परीक्षण पूर्वक निश्चय कर लेना चाहिए। यदि वे बहुख्यात हो तो उन के चारित्र का अतिसूक्ष्म परीक्षण आवश्यक हो जाता है क्योंकि ख्यातिप्राप्त व्यक्ति के लिए दोष-प्रवेश के सभी द्वार खुल जाते हैं। स्वकृत प्रत्यक्ष-निरीक्षण से एवं योग्य व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त जानकारी से उन में इष्ट आध्यात्मिक गुण हैं या नहीं, इस का निश्चय कर लेना चाहिए। वे सचमुच आध्यात्मिक पुरुष हैं ऐसी संतुष्टि खुद को होने के पश्चात् साधक को उनके पास जाना चाहिए।[14] उनके पास जाकर वह उन की उपासना-सेवा करता है। गुरु के उपदेश को सुनने के लिए तत्पर होता है। उपदेश को ध्यान से सुनता है।[15] सुनने के पश्चात् श्रुत धर्म वा सिद्धान्त की सच्चाई का उसे भाव होता है, प्रतीति होती है। यह भाव, प्रतीति श्रद्धा है। यह श्रद्धा साकार है क्योंकि उसे अपना श्रुत विषय है, विषयसंभार है। श्रद्धा की यह द्वितीय भूमिका है। यह भूमिका श्रवण पश्चात् किन्तु मनन पूर्व की है। श्रवण के पूर्व का तत्त्वपक्षपात या सत्यप्रवणतारूप मानसिक झुकाव यहाँ गुरुमुख से श्रुत धर्म या सिद्धान्त सत्य है ऐसे भाव में विकसित होता है।

श्रुत धर्म या सिद्धान्त सच्चा प्रतीत होता है, परन्तु वह सचमुच सत्य है या नहीं, उस की परीक्षा साधक को तर्क से, बुद्धि से करनी चाहिए। साधक श्रुत धर्म या सिद्धान्त को चित्त में धारण करता है और अनुकूल स्थल-काल प्राप्त होने पर उसकी तर्क से परीक्षा करता है, उस पर मनन करता है।[16] हमारे सभी आध्यात्मिक गुरुओं ने अपने उपदेश की परीक्षा करने को कहा है। अपने तत्त्वसंग्रह में शान्तरक्षित एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हैं : **तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः। परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचं न तु गौरवात्॥** स्वर्णकार स्वर्ण को तप्त कर, काट कर, कसौटी पर घिस कर स्वर्ण की परीक्षा करता है, उसी प्रकार हे भिक्षुओं ! बुद्धिमानों को चाहिए कि मेरे उपदेश को परीक्षा के पश्चात् ही स्वीकार करे, मेरे प्रति आदर या मेरे बड़प्पन के कारण स्वीकार न करे। बुद्ध ने कालामों को सम्बोधित करके यही बात कही थी। जैन हरिभद्र भी यही बात कहते हैं और उपनिषदों में भी यही वस्तु कही गयी है। 'इन सब बातों में हम कुछ समझ नहीं सकते, गुरु जो कहे उसका स्वीकार ही करना चाहिए', यह मनोदशा अच्छी नहीं है, वरन् हानिकर है। अतः स्वयं सिद्धसेन दिवाकरजी को कहना पड़ा—

अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ।।

(द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका ६.६.)

श्रुत धर्म या सिद्धान्त के सम्बन्ध में जो भी शंका हो या उत्पन्न हो उनको तर्क से, बुद्धि से, मनन से, दूर करना चाहिए, अन्यथा श्रुत धर्म या सिद्धान्त में जमी हुई भावरूप, विश्वासरूप, संप्रत्ययरूप श्रद्धा शिथिल हो जायेगी। शंकाओं को कदाग्रह और अन्धभक्ति से दबा देना नहीं चाहिए; तर्क से, बुद्धि से, मनन से उनका उन्मूलन करना चाहिए। मनन के पश्चात् श्रद्धा द्वितीय अर्थ में आकारवती बनती है। पालि-अंग्रेजी कोश (पालि टेक्स्ट सोसायटी) अनुसार 'आकार' शब्द का अर्थ है- 'reason, ground, account' । अतः आकारवती श्रद्धा का अर्थ होता है-'हेतुओं से तर्कों से समर्थित, दृढीकृत श्रद्धा'[17]। राग या मताग्रह का जो कुछ भी आवरण रह गया हो वह यहाँ अधिकांश दूर हो जाता है। तर्क से, मनन से विशेष चित्तशुद्धि, चित्तप्रसाद होता है। व्यक्ति की आध्यात्मिक उत्क्रान्ति में तर्क को-मनन को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने का कार्य दिया गया है। सर्व अध्यात्मविद्याओं में उसका महत्त्व स्वीकार किया गया है। किसी भी गुरु द्वारा तर्क की, बुद्धि की, मनन की अवमानना नहीं होनी चाहिए। श्रवण मनन के लिए सामग्री प्रस्तुत करता है, इस अर्थ में श्रवण मनन का आधार है, प्रतिष्ठा है। परन्तु श्रुत का ही स्वीकार करने में मनन बाध्य नहीं है, स्वीकार-अस्वीकार करने में मनन स्वतन्त्र है। अन्यथा मनन का कोई महत्त्व नहीं रहता। मनन के बाद की श्रद्धा को 'अवेच्चप्पसादा' कही गयी है,[18] क्योंकि यहाँ तर्क से, मनन से श्रुत धर्म या सिद्धान्त विषयक शंकाएँ दूर होने से एवं दृष्टिराग का जो कुछ भी आवरण रह गया हो वह दूर होने से चित्त विशेष शुद्धि को, प्रसाद को प्राप्त होता है। ऐसी प्रसादरूप यह श्रद्धा है। श्रद्धा की यह तृतीय भूमिका है। यह भूमिका मनन पश्चात् किन्तु ध्यानपूर्व की है। मनन की भूमिका पार नहीं करनेवाले को ध्यान का अधिकार नहीं है। तर्क से, मनन से प्रतिष्ठित धर्म या सिद्धान्त ही ध्यान का विषय बनने की योग्यता पाता है। तर्क, मनन द्वारा परीक्षित और प्रतिष्ठित धर्म या सिद्धान्त के प्रति साधक में ध्यान करने की इच्छा जाग्रत होती है। वह ध्यान करने के लिए उत्साहित होता है, प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दोंमें, वह सवितर्कसविचारात्मक प्रथम ध्यान में प्रवृत्त होता है। उस ध्यान में उस धर्म या सिद्धान्त का गम्भीर एवं सूक्ष्म तोलन वह करता है। पश्चात् वह विशेष आध्यात्मिक उत्साह और पराक्रमपूर्वक निर्वितर्कनिर्विचारात्मक द्वितीय ध्यान में प्रवेश करता है।[19] अपना कार्य प्रथम ध्यान में पूर्ण होने से द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार पूर्णतः निरुद्ध होते हैं। इस द्वितीय ध्यान की भूमिका में चित्त वितर्क-विचारजन्य क्षोभ से आत्यन्तिकरूप से मुक्त होता है। इस ध्यान की उत्कृष्ट कोटि में चित्त परम शुद्धि,

प्रसाद प्राप्त करता है । उसे अध्यात्मप्रसाद कहा जाता है ।[20] अर्थात् यहाँ अध्यात्मप्रसादरूप श्रद्धा होती है। चित्त की इस शुद्धि के कारण धर्म या सिद्धान्त चित्तमें पूर्णतः प्रतिबिम्बित होता है। परिणामतः साक्षात्कार होता है, प्रज्ञा का उदय होता है, सत्य का वेध होता है ।[21]

श्रवण, मनन और निदिध्यासन की अवस्थाओंमें से गुजरती हुई श्रद्धा अधिकाधिक पुष्ट होती जाती है । ज्यों ज्यों चित्त इन भूमिकाओं से गुजरता है त्यों त्यों रागमल अधिकाधिक क्षीण होता जाता है और परिणामतः चित्त की विशुद्धि (प्रसाद) अधिकाधिक होती जाती है । उत्तरोत्तर विशुद्धि की वृद्धि के साथ चित्तमें सत्य अधिकाधिक विशद रूप में गृहीत होता है, प्रतिबिम्बित होता है । इस प्रकार श्रद्धा के साथ ज्ञान का भी विकास होता है और अपनी पूर्णता प्रज्ञा में पाता है । निर्वितर्क-निर्विचारात्मक गम्भीर ध्यान के परिणामस्वरूप राग का सम्पूर्ण नाश होने से अर्थात् उत्कृष्ट चित्तविशुद्धि (चित्तप्रसाद) की प्राप्ति होने से प्रज्ञा का उदय होता है। जैनदर्शन में भी द्वितीय निर्विचार शुक्लध्यान के परिणामस्वरूप निःशेष रागनाश होने से विशुद्ध ज्ञान केवलज्ञान या अनंतज्ञान उदित होता है ।[22] और पातंजल योग में भी धर्ममेघसमाधि के फलस्वरूप राग का पूर्णतः क्षय होने से प्रसंख्यान (प्रकृष्ट ज्ञान) या अनंतज्ञान प्रकट होता है ।[23] श्रद्धा की बौद्ध विभावना समझ लेने के पश्चात् अब हम श्रद्धा की जैन विभावना का निरूपण करेंगे ।

जैनदृष्टि सम्मत श्रद्धा (सम्यग्दर्शन)

जैसे हमने देखा है, जैन चिंतक 'दर्शन' शब्द का प्रयोग श्रद्धा के अर्थ में करते हैं। जैनमतानुसार जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं। उन तत्त्वों में श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है ।[24] यहाँ श्रद्धा का अर्थ रुचि या अभिप्रीति किया गया है। अतः समग्र अर्थ होगा जीव आदि तत्त्व ही सच्चे हैं ऐसा भाव होना ही श्रद्धा है। यह एक ही श्रद्धा है। उसकी विभिन्न भूमिकाएँ नहीं है। इस श्रद्धा का प्रमुख कारण आन्तरिक शुद्धि है, रागद्वेषग्रन्थिभेद है, दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम-क्षय-क्षयोपशम है, किन्तु उसका निमित्तकारण गुरूपदेश है। इस श्रद्धा की उत्पत्ति में निमित्तकारण (गुरूपदेश) को अनिवार्य नहीं माना गया। फलतः कतिपय जीवों में निमित्तकारण के बिना ही इस श्रद्धा का जन्म होता है। अतः उनकी श्रद्धा नैसर्गिक श्रद्धा कहलाती है। कतिपय जीवों में निमित्तकारण द्वारा इस श्रद्धा का जन्म होता है। अतः उनकी श्रद्धा अधिगमज श्रद्धा कहलाती है ।[25] इस प्रकार एक ही श्रद्धा निर्निमित्तक या

सनिमित्तक हो सकती है, एक ही श्रद्धा नैसर्गिक या अधिगमज हो सकती है। जैनदर्शन ने एक ही व्यक्ति के विषय में अनिवार्यतः प्रकट होती इन दो क्रमिक भूमिकाएँ हैं ऐसा नहीं माना है। इस प्रकार जैनों ने नैसर्गिक श्रद्धा और अधिगमज श्रद्धा का विकल्प ही माना है; ये दो एक व्यक्ति की चेतना की क्रमिक भूमिकाएँ हैं, ऐसा नहीं माना है। यह है जैनों की स्थिर हुई मान्यता।

पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में जो वास्तविक प्रश्न उठाया है उसी से ही जैनों की इस मान्यता में रहा दोष प्रकट होता है। प्रश्न इस प्रकार है-नैसर्गिक श्रद्धा में जीवादि तत्त्वों का ज्ञान होता है या नहीं ? यदि हाँ, तो वह भी अधिगमज श्रद्धा ही हुई, उस से भिन्न उसे नहीं मानना चाहिए। यदि नहीं, तो जिस ने जीवादि तत्त्वों को जाना ही नहीं है, उसे उन में श्रद्धा कैसे हो सकती है ?[26] इस वास्तविक प्रश्न का पूज्यपाद ने स्वयं ने जो उत्तर दिया है, वह इस प्रश्न का उत्तर ही नहीं है। वे कहते हैं कि दोनों में मोहनीय कर्म का उपशम-क्षय-क्षयोपशमरूप आन्तरिक कारण समान है, फिर भी जो बाह्य उपदेश के बिना ही होती है वह नैसर्गिक श्रद्धा है और जो बाह्य उपदेशपूर्वक होती है वह अधिगमज श्रद्धा है। हम देख सकते हैं कि उनके द्वारा उपस्थित किये गये प्रश्न का इस में सचमुच उत्तर ही नहीं है। मान्यता ही इतनी दोषपूर्ण है कि इस प्रश्न का उत्तर देना जैन चिन्तकों के लिए कठिन है।

जैनों को स्वीकार कर लेना चाहिए कि नैसर्गिक श्रद्धा और अधिगमज श्रद्धा क्रमशः एक ही व्यक्ति में क्रम से होनेवाली श्रद्धा की दो भूमिकाएँ हैं। नैसर्गिक श्रद्धा यह श्रद्धा की श्रवण के पूर्व की भूमिका है और अधिगमज श्रद्धा यह श्रद्धा की श्रवण के पश्चात् की भूमिका है। श्रवण के पूर्व की भूमिकावाली श्रद्धा उपदेशजन्य नहीं है; स्वाभाविक रूप से ही उसमें जीवादि तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता क्योंकि साधक ने अद्यावधि जीवादि तत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ सुना ही नहीं है। अतः श्रवण के पूर्वकी भूमिकावाली श्रद्धा आध्यात्मिक सत्यप्रवण मानसिक झुकाव रूप है। आध्यात्मिक दृष्टि, झुकाव, अभिरुचि आद्योपांत समग्र क्षितिज को बदल देती है। यह अभिरुचि दूसरा कुछ नहीं है किन्तु ऐसी चित्तशुद्धि है, जो साधक को सत्य ग्रहण करने की क्षमता, योग्यता प्रदान करती है। दूसरी ओर, द्वितीय श्रवणोत्तर भूमिकावाली श्रद्धा उपदेशजन्य है और इसलिए उसमें जीवादि तत्त्वों का ज्ञान है, यह श्रद्धा श्रुत जीवादि तत्त्वों में श्रद्धा है। परन्तु उपनिषद[27], भगवद्गीता[28] तथा बौद्ध धर्म में सुरक्षित प्राचीन परम्परा की स्मृति से पूर्णतः भ्रष्ट ऐसी अपनी गलत मान्यता के कारण जैनों उपर्युक्त सही उत्तर दे नहीं सकते। निर्दिष्ट प्राचीन परम्परा की याद दिलानेवाले अवशेषरूप विधानों

या विभावनाएँ जो जैन साहित्य में उपलब्ध हैं वे नीचे दिए गये हैं :

(१) समग्र जैन साहित्य में एक विधान ऐसा प्राप्त हुआ है जिस में नैसर्गिक श्रद्धा और आधिगमिक श्रद्धा का एक ही व्यक्ति में क्रमशः उत्पन्न होती श्रद्धा की दो क्रमिक भूमिकाओं के रूपमें स्पष्ट स्वीकार हुआ है। यह विधान वाचक उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थसूत्रभाष्य की सम्बन्धकारिका १ पर आचार्य देवगुप्त की टीका में उपलब्ध है । देवगुप्त लिखते हैं-**नैसर्गिकाद् अवाप्तश्रद्धोऽध्ययनादिभिराधिगमिकम् (श्रद्धानम्) अवाप्नोति।**

(२) जैन चिन्तक दो प्रकार की श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) का स्वीकार करते हैं-नैश्चयिक श्रद्धा और व्यावहारिक श्रद्धा। नैश्चयिक श्रद्धा को हम श्रवण पूर्व की श्रद्धा मान सकते हैं, क्योंकि उसका लक्षण श्रवण के पूर्वकी श्रद्धा जैसा ही है। महान जैन चिन्तक उपाध्याय यशोविजयजी अपने 'सम्यक्त्व षट्स्थानक चउपई-बालावबोध' (गाथा-२) में लिखते हैं-'**दर्शन मोहनीयकर्मनो जे विनाश क्षय-उपशम-क्षयोपशमरूप, तेहथी जे निर्मल मलरहित गुणनुं थानक उपजईं ते निश्चय सम्यक्त्व जाणिई।**' इस प्रकार आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न आत्मा की विशुद्धि ही निश्चय श्रद्धा है, जब कि उसके कारण उत्पन्न, श्रुत जीवादि तत्त्वों की सत्यता में विश्वास का भाव व्यवहार श्रद्धा है।

(३) जैन ग्रन्थों में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) के निम्नोक्त पाँच लिंग, चिह्न दिए गये हैं-

(अ) **प्रशम** : रागद्वेष का, मताग्रह का, दृष्टिराग का उपशम ही प्रशम है।

(ब) **संवेग** : संवेग के दो अर्थ हैं : (१) सम् + वेग, सम्-सम्यक् अर्थात् तत्त्व या सत्य प्रति, वेग अर्थात् गति। तत्त्व या सत्य के हेतु तीव्रतम अभीप्सा सह सत्यशोधन के लिए गति करना। (२) सांसारिक बन्धनों से दूर होने की वृत्ति। सत्यशोधन में सांसारिक बन्धन बाधक हैं।

(क) **निर्वेद** : निर्वेद के भी दो अर्थ हैं : (१) सांसारिक विषयों में उदासीनता, रागाभाव, अनासक्ति। विषयों में, सांसारिक भोगो में आसक्ति सत्य की साधना को विकृत करती है, दृष्टि को मोहित करती है, मार्गच्युत करती है। (२) मान्यताओं में अनासक्ति। किसी भी मत में राग न होना, दृष्टिबद्धता न होनी।

(ड) **अनुकम्पा** : अनुकम्पा के भी दो अर्थ हो सकते हैं : (१) दूसरे को दुःखी देखकर दुःखी होना, उसके दुःख को दूर करने की इच्छा होना। (२) दूसरों को सत्यान्वेषण के लिए गभीर प्रयत्न करते हुए देखकर अपने को उन के प्रति सहानुभूति

होना और उन को भी अपनी अपनी रीति से सत्यान्वेषण करने में सहाय करने की इच्छा होना।

(इ) आस्तिक्य : किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी भी भाषा में किसी भी रीति से प्रस्तुत किये गये सत्य का स्वीकार करने में मन का खुलापन, तत्परता। यह चित्त की रचनात्मक और विध्यात्मक (positive) मानसिकता है। दूसरे के मत प्रति भी आदरभाव और उस मत में निहित सत्य को खोज कर स्वीकारने की मानसिक तत्परता। आस्तिक्य श्रद्धा ही है।

षट्खण्डागम की धवला टीका के अनुसार इन प्रशमादि गुणों की अभिव्यक्ति ही सम्यग्दर्शन है, श्रद्धा है। अर्थात् प्रशमादि श्रद्धा के चिह्न नहीं हैं अपि तु स्वयं श्रद्धा है।[29] चित्तशुद्धि, प्रसाद, सत्यग्रहण की योग्यता का ही विस्तार प्रशमादि है। वास्तव में इस श्रद्धा को नैसर्गिक श्रद्धा कह सकते हैं और यह श्रद्धा ही श्रवण के पूर्व की श्रद्धा है।

उपर्युक्त समग्र चर्चा से स्पष्ट होता है कि नैसर्गिक श्रद्धा ही श्रवण के पूर्व की श्रद्धा है और उस का अर्थ होता है-चित्तप्रसाद, चित्तशुद्धि, तत्त्वग्रहणयोग्यता। और अधिगमज श्रद्धा श्रवण के पश्चात् होनेवाली श्रद्धा है। अतः यह श्रद्धा श्रुत जीवादि तत्त्वों में विश्वासरूप है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि जो चित्तशुद्धि प्रथम भूमिका में है वह द्वितीय भूमिका में भी अवश्य है। परन्तु द्वितीय भूमिका में कुछ विशेषता है और वह है श्रुत जीवादि तत्त्वों में विश्वास। जैन दर्शन में श्रद्धा की मनन के पश्चात् एवं ध्यान के पश्चात् होनेवाली दो भूमिका का कहीं भी निर्देश नहीं है।

जैन मतमें श्रद्धा के विषय

अब हम अधिगमज श्रद्धा के विषय का निरूपण करेंगे। वे विषय हैं-जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव और अजीव अर्थात् उनका संयोग (बन्ध) यह दुःख है, संसार है। उसका कारण आस्रव है। मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा है। इन तत्त्वों को अन्य शब्दों में इस प्रकार बताया जा सकता है-संसार, संसारकारण, मोक्ष और मोक्षकारण। योगभाष्य (२.१५) में कहा गया है कि **इदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्-तद्यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपायः।** बुद्ध ने इन्हें ही चार आर्यसत्य के रूप में प्रस्तुत किया है - दुःख है, दुःखकारण है, दुःखनिरोध सम्भव है, दुःखनिरोध का उपाय है। अध्यात्मशास्त्र में आप्त पुरुष इन्हीं का उपदेश देते हैं। जैनों के सात तत्त्व, योगदर्शन के चतुर्व्यूह और बुद्ध के

चार आर्यसत्य एक ही बात है। दुःखमुक्ति के इच्छुक को जिनकथित सात तत्त्वों में विश्वास करना चाहिए।

१. जीव (=आत्मा=चित्त) : आत्मा, चित्त और मन इन तीन एक एक से बढकर तत्त्वों का निर्देश कम से कम कठोपनिषद् जितना प्राचीन है। वहाँ कहा गया है कि मन से बढ़कर चित्त है और चित्त से बढ़कर आत्मा है। इन तीनों तत्त्वों का सांख्य में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार प्रतिक्षणपरिणामी चित्त से पर कूटस्थनित्य आत्मा का स्वीकार करनेवाली एक परम्परा थी। यह परम्परा दर्शन (एक प्रकार के बोध) को आत्मा का धर्म मानती है[30] और ज्ञान को चित्त का धर्म मानती है।[31] इस परम्परा से भिन्न दूसरी प्राचीन परम्परा थी जो प्रतिक्षणपरिणामी चित्त से पर ऐसी कूटस्थनित्य आत्मा का प्रतिषेध करके ज्ञान और दर्शन दोनों को चित्त के ही धर्म मानती थी।

प्रथम परम्परा आत्मवादी है जब कि द्वितीय अनात्मवादी है। इस प्रकार बौद्ध एवं जैन दोनों अनात्मवादी हैं। बौद्ध चित्त को ही ज्ञाता और द्रष्टा मानते हैं। जैन जिसे 'आत्मा' नाम देते हैं वह चित्त ही है[32] और वह चित्त ज्ञाता भी है और द्रष्टा भी है।[33] बौद्ध चित्त क्षणिक है, जब कि जैन चित्त (=आत्मा) प्रतिक्षणपरिणामी है। गहराई से विचार करने पर बौद्ध का क्षणिकवाद और जैन का प्रतिक्षणपरिणामवाद में कोई अन्तर नहीं है। जैनों का आत्मद्रव्य (= चित्तद्रव्य) ही बौद्धों का चित्तसन्तान है और जैनों के आत्मद्रव्यपर्याय ही बौद्धों के चित्तसन्तानगत क्षणव्यक्ति हैं। जैन महान चिन्तक उपाध्याय यशोविजयजी ने द्रव्यगुणपर्याय रास की टीका (टबा) में यही बात कही है- **प्रतीत्यपर्यायोत्पादई एकसंतानपणुं तेह ज द्रव्यलक्षण ध्रौव्य छई।** कार्यकारणभाव से क्रमबद्ध प्रतिक्षणोत्पन्न पर्यायों का एकसन्तानत्व ही द्रव्यलक्षण ध्रौव्य है। प्रतिक्षणोत्पन्न और कार्यकारणभाव से सम्बद्ध पर्यायों का एक सन्तान ही द्रव्य है। सन्तान भी क्षणप्रवाह है और द्रव्य भी पर्यायप्रवाह है। और प्रवाह रूप एकत्व ही ध्रौव्य या नित्यत्व है। जैनों ने चित्त को 'आत्मा' नाम देकर अपने को आत्मवादी होने का भ्रम पैदा किया है। उपरान्त, जैन ग्रन्थों में बौद्धों को अनात्मवादी और जैनों को आत्मवादी बताकर, बौद्धों के अनात्मवाद का खण्डन किया गया है। यह वस्तु नितान्त गलत है और मतिभ्रम पैदा करती है। बौद्ध के समान जैन भी अनात्मवादी हैं। जैन चित्त को ही आत्मा या जीव कहते हैं। चित्त और आत्मा समानार्थक है, एक ही तत्त्व के दो नाम हैं।

जैन मतानुसार आत्मा का स्वभाव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र (या अनन्त सुख) और अनन्त वीर्य है। वादिदेवसूरि ने स्थिर हुए जैन मतानुसार आत्मा का

प्रायः सम्पूर्ण लक्षण दिया है। वे बताते हैं कि आत्मा चैतन्यस्वरूप है, परिणामी है, कर्त्ता है, साक्षात् भोक्ता है, प्रतिक्षेत्र भिन्न है, देहपरिमाण है और पौद्गलिक अदृष्टवान् है।

आत्मा की परिणामिता – आत्मा प्रत्येक क्षण में परिवर्तन प्राप्त करती है। तथापि वह नित्य है। उमास्वाति ने नित्य का लक्षण इस प्रकार दिया है-**तद्भावाव्ययं नित्यम्**। अपने मूलभूत स्वभाव या जाति में से अविच्युति यही नित्यता है। अपनी मूलभूत जाति को छोडे बिना भिन्न भिन्न परिणाम प्राप्त करनेवाली वस्तु को नित्य कहा जाता है। इसमें परिवर्तन की मर्यादा है। द्रव्य अपनी मूलभूत जाति में सम्भवित सभी परिवर्तन प्राप्त कर सकता है, परन्तु इतनी सीमा तक परिवर्तन प्राप्त नहीं कर सकता कि वह अपनी मूलभूत जाति का त्याग करके दूसरी ही मूलभूत जाति का बन जाय। आत्मा कभी पुद्गल (मेटर) में परिवर्तित नहीं हो सकती या पुद्गल आत्मा में परिवर्तित नहीं हो सकता। ऐसा होने से आत्मव्यक्तियों में एक की भी वृद्धि या कमी सम्भव नहीं है। अर्थात् आत्मव्यक्तियों की संख्या नियत है और वह अनन्त है, एवं प्रत्येक आत्मव्यक्ति अनादि-अनन्त है, अर्थात् अनुत्पन्न और अविनाशी है। बौद्ध के अनुसार भी चित्तसन्तान कभी अचित्तसन्तान नहीं बन जाता। चित्तसन्तान, चित्तसन्तान ही रहता है। चित्तसन्तानों की संख्या भी नियत ही है। अतः चित्तसन्तान सन्तान रूप में अनुत्पन्न और अविनाशी माना जाता है।

आत्मा का कर्तृत्व – जैनों ने आत्मा को परिणामी माना है, अतः वह परिणामों की कर्ता है। उपरांत, जैनों ने आत्मा को मन, वाणी और शरीर से भिन्नाभिन्न माना है। अतः मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति की वह कर्त्ता है। तदुपरान्त, मन, वाणी और शरीर को उनकी प्रवृत्ति में प्रेरनेवाली आत्मा होने से भी वह सर्व मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों की कर्त्ता ठहरती है। जैन मतानुसार प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप पौद्गलिक कर्मरज आत्मा की ओर आकर्षित होती हैं और आत्मा के साथ बद्ध होती हैं, अतः इस अर्थ में आत्मा पौद्गलिक कर्मों की भी कर्त्ता मानी जाती है।

आत्मा का भोक्तृत्व – जैनदर्शन अनुसार आत्मा भोक्ता भी है। जैनों द्वारा आत्मा को परिणामी मानने से, उस में मुख्यार्थ में भोक्तृत्व घटित हो सकता है। कर्मसिद्धान्त की संगति हेतु कर्मों का जो कर्ता हो, वही कर्मों के फलों का भोक्ता होना चाहिए। वह शरीर, मन, इन्द्रियों द्वारा सुख-दुःख भुगतता है।

आत्मा प्रतिक्षेत्र भिन्न – क्षेत्र अर्थात् शरीर। आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है। जैन आत्मबहुत्ववादी हैं।

आत्मा देहपरिमाण – जैन मतानुसार आत्मा संकोच-विकासशील है।[34] आत्मा जिस देह को धारण करती है, उसी देह जितना ही उसका परिमाण हो जाता है। वास्तव में जैनों की आत्मा चित्त ही है। सांख्यचिन्तक भी चित्त को संकोच-विकासशील मानते थे। वे कहते हैं : चित्त संकोच-विकासशील है। एक दीपक को घट में रखने से इसका प्रकाश घट में संकुचित होकर रहता है, किन्तु उसी दीपक को कक्ष में रखने से उसका प्रकाश कक्ष के समान विकसित हो जाता है। इसी प्रकार चित्त का भी संकोच-विस्तार होता है। शरीर के परिमाण के जितना ही परिमाण धारण कर चित्त रहता है।[35]

आत्मा पौद्गलिक अदृष्टवान् – आत्मा का अदृष्ट अर्थात् कर्म पौद्गलिक द्रव्यरूप (material substance) है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है। कर्मों को भौतिक माननेवाली अनेक परम्पराएँ हैं। उनमें सांख्य, आजीविक और बौद्ध तो है ही। इस विषय में सांख्य मत के सम्बन्ध में शेरबाट्स्की लिखते हैं : In Sāṅkhya, karma is explained materialistically, as consisting in a special collocation of infra-atomic particles or material forces making the action either good or bad. (*Boddhist Logic*, Vol. I, p. 133, fn. 3)। कर्म पौद्गलिक हो तो उनमें रंग होने चाहिए। जैसे जपाकुसुम का लाल रंग उसकी सन्निधि में रहे दर्पण में प्रतिफलित होता है वैसे ही कर्मों के रंग अपनी सन्निधि में रहे चित्त में प्रतिफलित होते हैं। इस प्रकार कर्म की पौद्गलिकता के कारण जीवरंगों (लेश्याओं, psychic colourations) की जैन मान्यता घटित होती हैं। सांख्य के सत्त्व, रजस् और तमस् के क्रमशः तीन रंग शुक्ल, रक्त और कृष्ण, एवं उनके आधार पर मनुष्यों का सात्त्विक, राजसिक और तामसिक में वर्गीकरण ध्यानार्ह है। आजीविकों की छह अभिजातियाँ भी भौतिक कर्मरजों के रंगो के कारण होनेवाले चेतसिक रंग हैं। महाभारत शान्तिपर्व (१२.२८६.३३) में निरूपित छह जीववर्ण[36] भी आजीविकों की छह अभिजातियाँ समान हैं। बौद्ध धर्म में एवं पातंजल योग में भी रंग आधारित कर्मों के चार विभाग किये गये हैं। इसी कारण प्राध्यापक झीमर बताते हैं कि कर्म के रंगों का सिद्धान्त जैन धर्म की ही खास विशेषता नहीं है, अपि तु मगध में सुरक्षित आर्यपूर्व की सामान्य विरासत का एक हिस्सा हो, ऐसा प्रतीत होता है।[37] कर्म पौद्गलिक हैं, भौतिक हैं, मूर्त हैं जब कि आत्मा चेतन है, अभौतिक है, अमूर्त है। ऐसी परिस्थिति में कर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध कैसे हो सकता है ? भौतिक-मूर्त द्वारा चेतन-अमूर्त का उपघात या

उपकार कैसे संभवित है ? जैसे ज्ञानादि चैतन्यरूप और अमूर्त होने पर भी मदिरा आदि भौतिक-मूर्त वस्तुओं द्वारा इनका उपघात होता है तथा घृत, दूध आदि पौष्टिक पदार्थों द्वारा इनका उपकार होता है वैसे ही आत्मा चेतन-अमूर्त होने पर भी भौतिक-मूर्त कर्म द्वारा उसका उपघात या उपकार होता है। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है।[38]

२. **अजीव** : अजीव में पाँच द्रव्यों का समावेश हैं, यथा पुद्गल (Matter), धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

(१) **पुद्गल** - स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये पुद्गल द्रव्य के व्यावर्तक गुण हैं।[39] पुद्गल के प्रत्येक परमाणु में ये चार गुण होते हैं। स्पर्श के आठ, रस के पाँच, गन्ध के दो और वर्ण के पाँच भेद हैं-इस प्रकार प्रमुख बीस भेद हैं। अणु में एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं।[40] उस में शीत और रुक्ष दो स्पर्श, या शीत और स्निग्ध दो स्पर्श, या उष्ण और रुक्ष दो स्पर्श, या उष्ण और स्निग्ध दो स्पर्श होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक परमाणु या तो स्निग्ध होता है या तो रुक्ष होता है। स्निग्धता और रुक्षता की मात्रा अनन्त तक हो सकती है। स्निग्धता और रुक्षता की नियत मात्रावाले दो परमाणुओं का ही संयोजन होता है।[41] डॉ. बी.एन. सील इस बारे में लिखते हैं : "A crude theory, of chemical combination, very crude but immensely suggestive, and possibly based on the observed electrification of smooth and rough surfaces as the result of rubbing."[42] परमाणु में स्निग्धता या रुक्षता की मात्राओं का न्यूनाधिक रूप में परिवर्तन स्वभावतः चलता रहता है और दो परमाणुओं में उनकी नियत मात्रा होने से परमाणुओं का संयोजन होकर स्कंध (aggregate) बनता है। इस सम्बन्ध में डॉ. ए. एन उपाध्ये कहते हैं : "Thus the atomic aggregation is an automatic function resulting from the essential nature of atoms...The combinatory urge in atoms is due to their degrees of cohesiveness and aridness."[43] जैन परमाणुवाद की दूसरी ध्यानयोग्य बात यह है कि परमाणुओं में जातिभेद नहीं है। पृथ्वीजाति के परमाणुओं का अलग वर्ग, अप्जाति के परमाणुओं का अलग वर्ग, इत्यादि जैन नहीं मानते। उनके मतानुसार कोई भी परमाणु पृथ्वी, पानी, तेज और वायु का पर्याय (परिणाम, mode) धारण कर सकता है।[44] परमाणु को देशव्याप्ति (extension) नहीं है। वह जितने देश में रहता है, उसे प्रदेश

कहते हैं। प्रदेश देशमाप का अन्तिम घटक है। जैन परमाणुवाद की अन्य विशिष्ट मान्यता इस प्रकार है-एक परमाणु एक प्रदेश में रहता है, परन्तु द्व्यणुक एक प्रदेश में भी रह सकता है और दो में भी। इस प्रकार उत्तरोत्तर क्रमशः संख्यावृद्धि होने पर त्र्यणुक, चतुरणुक ऐसे ही अनन्ताणुक स्कंध एक प्रदेश, दो प्रदेश, तीन प्रदेश, ऐसे ही असंख्यात प्रदेशवाले क्षेत्र में रह सकते हैं। अर्थात् अनंताणुक स्कंध को रहने के लिए अनन्त प्रदेशवाले क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। लोक (Universe) असंख्यातप्रदेशी होने के बावजुद उसमें अनन्त अणु समाविष्ट हो सकते हैं।[45] बौद्ध परमाणुवाद और न्याय-वैशेषिक परमाणुवाद के साथ जैन परमाणुवाद की तुलना करना रसप्रद है किन्तु यहाँ तुलना अप्रस्तुत है।

(२) **धर्मद्रव्य** - जीव और पुद्गल की गति में सहायक बननेवाला द्रव्य धर्म है।[46] जैसे मत्स्य जल के माध्यम की सहायता से गतिमान होता है वैसे ही जीव और पुद्गल धर्मद्रव्य के माध्यम की सहायता से गतिमान होते हैं। यह द्रव्य लोकव्यापी है, व्यक्तिशः एक है और गतिरहित है।

(३) **अधर्मद्रव्य** - जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक द्रव्य अधर्म है।[47] यह द्रव्य भी लोकव्यापी है, व्यक्तिशः एक है और गतिरहित है

(४) **आकाशद्रव्य** - जो द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को रहने के लिए स्थान देता है-अवगाह देता है[48] वह आकाश है। वह भी व्यक्तिशः एक, गतिरहित और सर्वव्यापी है। आकाश के जिस भाग में जीव आदि पाँच द्रव्य रहते हैं उसे लोकाकाश कहा जाता है और इन द्रव्यों से रहित शून्य आकाश को अलोकाकाश कहा जाता है।

(५) **कालद्रव्य** - द्रव्यों के सूक्ष्म-स्थूल परिवर्तन होने में जो सहायक कारण है वह कालद्रव्य है।[49] मन्द गति से एक आकाशप्रदेश से पास के ही दूसरे आकाशप्रदेश पर जाने के लिए परमाणु को जितना समय लगता है वह काल की अंतिम न्यूनतम इकाई है। उसे समय या क्षण कहा जाता है।[50] क्षणों का प्रचय नहीं होता। अतः कालद्रव्य को प्रदेशप्रचय नहीं है। इसलिए काल को अस्तिकाय नहीं कहा जाता।[51] शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। कतिपय जैन चिन्तक काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते परन्तु द्रव्यों के परिवर्तनों (पर्यायों) को ही काल मानते हैं।[52]

३. **आस्रव** : सूक्ष्म पौद्गलिक कर्मरजों का आत्मा की ओर आना ही आस्रव है। आस्रव का कारण है मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति, जिन्हें जैन परिभाषा में योग कहते हैं। अतः इस प्रवृत्ति को भी आस्रव कहा जाता है।[53]

४. **बन्ध** : आत्मा के प्रति आकर्षित कर्मरजों का आत्मा के साथ नीरक्षीर सम्बन्ध होने का नाम है बन्ध।[54] उमास्वाति बन्ध के कारणों में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (=प्रवृत्ति) मानते हैं।[55] परन्तु विशेषतः उक्त पाँचों में से कषाय ही बन्ध का प्रमुख कारण है।[56] कषाय अर्थात् रागद्वेष। क्रोध, मान, माया और लोभ ये तो रागद्वेष का ही विस्तार हैं। आत्मा से बद्ध कर्म आत्मा की अमुक शक्ति को आवरित करते हैं (प्रकृतिबन्ध), उस शक्ति को अमुक समय तक आवरित करते हैं (स्थितिबन्ध), विभिन्न तीव्रतावाले फल प्रदान करते हैं (रसबन्ध, अनुभावबन्ध) और अमुक जथ्थे में आत्मा से बद्ध होते हैं (प्रदेशबन्ध)।[57] किन्तु यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि वे आत्मा की कौनसी शक्ति (प्रकृति) को आवरित करेंगे, कितने समय तक आवरित करेंगे, कितनी तीव्रतावाले फल प्रदान करेंगे और कितने जथ्थे में बद्ध होंगे, उनके नियामक कारण क्या हैं ? जैन मतानुसार कर्मों को आत्मा की ओर लाने में कारणभूत प्रवृत्ति है और उस प्रवृत्ति के प्रकार ही आत्मा की कौनसी शक्ति को वे कर्म आवरित करेंगे, यह निश्चित करते हैं। यदि प्रवृत्ति ज्ञान के साधनों को नष्ट करनेवाली, ज्ञानी का अनादर करनेवाली होंगी तो वैसी प्रवृत्ति से लगनेवाले कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को आवरित करेंगे। परिणामतः ऐसे कर्म ज्ञानावरणीय कहलायेगें। उस प्रवृत्ति का प्रमाण उन कर्मों के जथ्थे का प्रमाण निश्चित करता है।[58] कर्म कितने समय तक आत्मशक्ति को आवरित करेंगे इसका आधार तथा फल की तीव्रता-मन्दता का आधार प्रवृत्ति के समय की कषाय की तीव्रता-मन्दता पर हैं।[59] जितने अधिक तीव्र कषायपूर्वक की गई प्रवृत्ति उतने ही अधिक समय तक उस प्रवृत्ति से लगनेवाले कर्म आत्मा की शक्ति को आवरित करेंगे और उतने ही अधिक तीव्र फल प्रदान करेंगे। इस प्रकार जैन कषाय के त्याग पर विशेष बल देते हैं, प्रवृत्ति के त्याग पर उतना नहीं। जैनोंने सांपरायिक और इर्यापथिक कर्मबन्ध स्वीकार किए हैं और बताया है कि कषाय सहित प्रवृत्ति करनेवाले को सांपरायिक कर्मबन्ध होता है और कषाय रहित प्रवृत्ति करनेवाले को इर्यापथिक कर्मबन्ध होता है। सांपरायिक कर्मबन्ध को समझाने के लिए वे गीले चमडे पर गिरि हुई धूलिरज के चिपकने का दृष्टान्त देते हैं और इर्यापथिक कर्मबन्ध को समझाने के लिए सूखी दिवार पर फैंके गये काष्ठ के गोले का उदाहरण देते हैं। जैन कहना चाहते हैं कि मनवचनकाया की प्रवृत्ति होने पर भी यदि कषाय न

हो तो उपार्जित कर्मों में स्थिति एवं रस का बन्ध नहीं होता। कर्म लगने के साथ ही अलग हो जाते हैं। स्थिति और रस के बन्ध का कारण कषाय है। अतः कषाय ही संसार की वास्तविक जड़ है।[60] इस प्रकार वास्तव में तो फल की आकांक्षावाली, रागद्वेषप्रेरित प्रवृत्ति ही बन्ध का कारण है; निष्काम रागद्वेष रहित प्रवृत्ति बन्ध का कारण नहीं है, ऐसा फलित होता है। इसलिए ही कहा गया है : **कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।**

५. **संवर** : कर्मरजों को आत्मा की ओर आने से रोकना संवर है।[61] संवर का उपाय है प्रवृत्ति का संयम, सर्व दुष्प्रवृत्ति में से अपने को दूर रखना। उमास्वाति ने संवर के उपाय के रूप में व्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप को बताये हैं।[62] हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से विरति यह व्रत है। मनवचनकाया की प्रवृत्ति का सम्यक् निग्रह यह गुप्ति है। विवेकशील प्रवृत्ति समिति है। क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शौच, संयम, सत्य, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्यरूप दशविध धर्म है। शान्त भाव से परीषहों को सहना परीषहजय है। समभाव आदि चारित्र है। वस्तुस्थिति का कल्याणपोषक चिन्तन अनुप्रेक्षा है।

६. **निर्जरा** : बद्ध कर्मों में से कतिपय कर्मों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है।[63] यह निर्जरा दो प्रकार से होती है। एक निर्जरा में उच्च आध्यात्मिक आशय से किए गये तप से बद्ध कर्मरज आत्मा से अलग हो जाती है। द्वितीय निर्जरा में कर्म अपने परिपाक के समय फलभोग के बाद आत्मा से अलग हो जाते हैं। प्रथम सकाम निर्जरा कहलाती है जब कि द्वितीय अकाम निर्जरा कहलाती है। अकाम निर्जरा का चक्र तो चलता ही रहता है। उस से जीव को कोई लाभ नहीं है। सकाम निर्जरा ही आध्यात्मिक लाभ कराती है। यह सकाम निर्जरा तप से साध्य है।[64] तप दो प्रकार के हैं–बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप के छह भेद हैं–अनशन (उपवास), ऊणोदरी, वृत्तिसंक्षेप (विविध वस्तुओं की लालच या तृष्णा कम करना), रसत्याग, विवक्तशय्यासनसंलीनता (विघ्नरहित एकान्त स्थान में सोना-बैठना-रहना आदि) और कायक्लेश (शीत में, धूप में रह कर या विविध आसन आदि से शरीर को कसना)।[65] आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं–प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (सेवा), स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (अहंत्व-ममत्व त्याग) और ध्यान (धर्मध्यान और शुक्लध्यान)[66]।

७. **मोक्ष** : बन्ध हेतुओं के अभाव से, संवर से और निर्जरा से सर्व कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना (आत्मा से अलग होना) मोक्ष है।[67] सर्व कर्म के आवरण दूर

होने से आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य पूर्णतः प्रकट होते हैं। उनका आनन्त्य प्रकट होता है। मोक्ष में आत्मा सुख-दुःख से पर हो जाती है। इसे ही परमानन्द की अवस्था मानी गयी है। कतिपय जैन चिन्तकों ने कहा है कि ज्ञान की निराबाधता ही अनन्त सुख है।[68] दूसरे शब्दों में कहा जाय तो पूर्णता ही अनन्तसुख है। अल्पता में, अपूर्णता में सुख नहीं है, पूर्णता में ही सुख है। **भूमा वै सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।**

टिप्पण

1. "In ancient times the epithet Jina was applied by various groups of *Śramaṇas* to their respective teachers. Mendicant followers of what eventually became known as Jaina tradition were originally known as Nigaṇtha... It was only after *śramaṇa* sects using the term Jina (e.g. the Ājīvikas) either died out or simply abandoned this term in favour of another (as in the case of Buddhists) that the derived term Jaina (Jina-disciple) came to refer exclusively to the Nigaṇṭhas. This seems to have occurred by round the ninth century..." *The Jaina Path of Purification*, Padmanabh S. Jaini, Motilal Banarsidass, Delhi, 1979, p.2, fn.3
2. *India and Europe*, Wilhelm Halbfass, Motilal Banarsidass, Delhi, 1990, pp. 12-13.
3. १०.१३६. २-३.
4. **न्यायमञ्जरीग्रन्थिभङ्ग**, संपा. नगीन जी. शाह, ला. द. भा. सं. विद्यामन्दिर, अहमदाबाद।
5. ५.३.२०.
6. **पन्नवणासुत्त, सिद्धपद.**
7. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। **तत्त्वार्थसूत्र,** १.१.
8. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। वही, १.२.
9. मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्। वही, १.९
10. **पातंजल योगसूत्र** (१.२०) के अपने भाष्य में व्यास द्वारा श्रद्धा की जो व्याख्या दी गई है वह अक्षरशः बौद्ध व्याख्या से मिलती है। यह व्याख्या है-श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः।
11. तुलनीय-*तत्त्वपक्षपातो हि धियां (=चित्तस्य) स्वभावः।* **योगवार्तिक, १.८.**
12. जैनों की आभिग्रहिक मिथ्यात्व की मान्यता से तुलनीय। दे० *Jaina Philosophy and Religion*. Nyayavijayji. Tr. Nagin J. Shah. Motilal Banarsidass. Delhi. 1998. p. 205

13. सद्धाजातो उपसंकमन्तो पयिरुपासति...। **मज्झिमनिकाय**, २.१७३
14. वही, **चंकिसुत्त**।
15. ...पयिरुपासन्तो सोतं ओदहति, ओहितसोतो धम्मं सुणाति...। **मज्झिमनिकाय**, २.१७३
16. सुत्वा धम्मं धारेति, धारितानं धम्मानं अत्थं उपपरिक्खति...। वही.
17. आकारवती सद्धा...दळ्हा असंहारिया...। **मज्झिमनिकाय**, १.३२०
18. **अभिधर्मकोशभाष्य**, ४.७५
19. अत्थं उपपरिक्खतो धम्मा निज्झानं खमन्ति, धम्मनिज्झाणखन्तिया अति छन्दो जायति, छन्दजातो उस्सहति, उस्सहित्वा तुलेति, तुलयित्वा पदहति...। **मज्झिमनिकाय**, २.१७३
20. वितर्कविचारक्षोभविरहात्...अध्यात्मप्रसादः।...तस्मात् तर्हि श्रद्धा प्रसादः। तस्य हि द्वितीयध्यानलाभात् समाहितभूमिनिःसरणे सम्प्रत्यय उत्पद्यते। सोऽत्र अध्यात्मप्रसादः। **अभिधर्मकोशभाष्य**, ८.७

अत्यन्त उल्लेखनीय बात यह है कि कुछ महत्त्वपूर्ण बौद्ध पारिभाषिक शब्द पातंजल **योगसूत्र** व **योगभाष्य** में प्राप्त होते हैं। उनमें एक है 'अध्यात्मप्रसाद'। श्रद्धा की व्यास द्वारा प्रस्तुत व्याख्या में 'प्रसाद' शब्द को चित्तशुद्धि के अर्थ में अर्थात् श्रवणपूर्व की चित्त की रागशैथिल्य या रागराहित्य की स्थिति के अर्थ में उन्होंने या उनके टीकाकारों ने लिया नहीं है। उसे समझाते हुए वाचस्पति अपनी **तत्त्ववैशारदी** में लिखते हैं : स च आगमानुमानाचार्योपदेशसमधिगततत्त्वविषयो भवति, स हि चेतसः सम्प्रसादोऽभिरुचिरतीच्छा श्रद्धा। उनका तात्पर्य यह है कि आगम, अनुमान वा आचार्य के उपदेश द्वारा जिस तत्त्व को परोक्षतः जाना, उसका साक्षात्कार करने की तीव्र इच्छा ही संप्रसाद है और यह संप्रसाद ही श्रद्धा है। इस प्रकार वाचस्पति की व्याख्या मात्र श्रवण पश्चात् होनेवाली श्रद्धा को ही लक्ष में लेती है, श्रवणपूर्व की श्रद्धा को लक्ष में नहीं लेती, और श्रद्धा का जो वास्तविक अर्थ चित्तशुद्धि है, उसका किंचित् भी निर्देश नहीं करती। विज्ञानभिक्षु **व्यासभाष्य** पर अपने **वार्तिक** में इस प्रकार विवरण करते हैं : संप्रसादः प्रीतिः योगो मे भूयादित्यभिलाषः। उस का तात्पर्यार्थ यह है - गुरूपदेश से योगमार्ग जान कर जो योगमार्ग की ओर बढ़ा है, उसकी योग में प्रीति एवं 'मेरा योग सिद्ध हो' ऐसी अभिलाषा संप्रसाद है, और यह संप्रसाद श्रद्धा है। प्राध्यापक एस. एन. दासगुप्ता के समक्ष विज्ञानभिक्षु के ये शब्द थे, जब उन्हों ने अपने *Yoga Philosophy* ग्रंथ (पृ. ३३१) में लिखा : "Śraddhā...includes a sweet hope which looks cheerfully on the practice and brings a firm belief in the success of the attempt." विज्ञानभिक्षु भी श्रद्धा से मात्र श्रवण के पश्चात की श्रद्धा ही समझते हैं और 'प्रसाद' का अर्थ चित्तशुद्धि नहीं करते। परन्तु 'अध्यात्मप्रसाद' शब्द के अर्थघटन के समय पतंजलि,

व्यास आदि सभी 'प्रसाद' का अर्थ चित्तशुद्धि करते हैं। प्रस्तुत योगसूत्र है : निर्विचारवैशारद्ये अध्यात्मप्रसादः। (१.४७)। स्वयं पतंजलि कहते हैं कि निर्विचार समापत्ति में विचार का निरोध होने से जो वैशारद्य या स्वच्छता चित्त प्राप्त करता है वह अध्यात्मप्रसाद है। व्यास अपनें भाष्य में लिखते हैं "क्षोभ और मोह के जनक क्रमशः रजस् और तमस् रूप मलों के आवरण से मुक्त होने से चित्तप्रवाह यहाँ पूर्णतः स्वच्छ बन जाता है, यह स्वच्छता या शुद्धि ही प्रसाद है। जब योगी निर्विचार समापत्ति में यह स्वच्छता या प्रसाद प्राप्त करता है तब उसे अध्यात्मप्रसाद का लाभ हुआ कहा जाता है। स्वामी हरिहरानंद आरण्य इस सूत्र पर अपनी हिन्दी टीका में लिखते हैं : 'बुद्धि (चित्त)ही प्रधानतया आध्यात्मिक भाव है, उसका प्रसाद या नैर्मल्य।" अतः स्पष्ट है कि व्यास की श्रद्धा की व्याख्या में जो 'प्रसाद' शब्द है, उसका अर्थ विशुद्धि करना चाहिए। यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि अध्यात्मप्रसाद की बौद्ध विभावना और पातंजल विभावना अत्यन्त समान है।

21. पहितत्तो समानो कायेन चेव परमसच्चं सच्छिकरोति, पञ्ञाय च तं अतिविज्झ पस्सति। **मज्झिमनिकाय,** २.१७३

22. *Jaina Philosophy and Religion*, Nyayavijayaji, Tra. Nagin J. Shah, Motilal Banarsidass, Delhi, 1998, p. 74

23. प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्यात् ज्ञेयमल्पम्। **योगसूत्र,** ४.२९-३१

    तद् धर्ममेघाख्यं ध्यानं परमं प्रसङ्ख्यानं विवेकख्यातेरेव पराकाष्ठेति योगिनो वदन्ति। **योगवार्तिक,** १.२

    तुलनीय-धर्ममेघसमाधि एवं बौद्ध धर्ममेघा-भूमि।

24. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। **तत्त्वार्थसूत्र,** १.२ और ४

25. तन्निसर्गादधिगमाद् वा। वही, १.३

    उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरङ्गो हेतुस्तुल्यो दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। तस्मिन् सति यद् बाह्योपदेशाद् ऋते पादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्। यत् परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं तदुत्तरम्। **सर्वार्थसिद्धि,** १.३

26. निसर्गजे सम्यग्दर्शनेऽर्थाधिगमः स्याद् वा न वा। यद्यस्ति, तदपि अधिगमजमेव नार्थान्तरम्। अथ नास्ति, कथमनवबुद्धतत्त्वस्य अर्थश्रद्धानमिति। १.३

27. श्रवण के पूर्व की श्रद्धा का उल्लेख बृहदारण्यक के प्रसिद्ध वाक्य 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि में है, जब कि श्रवण के पश्चात् की किन्तु मनन के पूर्वकी श्रद्धा का उल्लेख छान्दोग्य के उन दो त्रिकों में हैं जिनका हमने निर्देश किया है।

28. **भगवद्गीता** (४.३९) का प्रसिद्ध वाक्य है : श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्। यहाँ श्रवण के पूर्व की श्रद्धा का स्पष्ट उल्लेख है। 'ज्ञान' शब्द का अर्थ यहाँ आचार्योपदेशजन्य ज्ञान है।

29. **षट्खंडागम-धवला टीका**, संपा० हीरालाल जैन, अमरावती, १९३९-४२, पृ. १५१

30. द्रष्ट भावात्...॥ **सांख्यकारिका**, १७

31. चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥ **योगभाष्य**, ३.१५

चित्तं प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात्... । **योगभाष्य**, १.२.

प्रख्या = ज्ञानम्।

चित्त को ज्ञान है और पुरुष को दर्शन है, इस साङ्ख्य मत का खण्डन जयन्त भट्ट ने इस प्रकार किया है। "यो हि जानाति...न तस्य...अर्थदर्शनम्...यस्य चार्थदर्शनं न स जानाति।" **न्यायमञ्जरी**, काशी संस्कृत सिरिझ, पृ. ४

32. चित्तं चेतणा बुद्धिः तं जीवतत्त्वमेव। **अगस्त्यसिंहचूर्णि, दसकालियसुत्त**। तदुपरान्त, प्राचीन जैन साहित्य में प्रयुक्त 'सचित्त', 'अचित्त', 'पुढईचित्त' आदि शब्द विचारणीय हैं। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध मे चित्त, जीव और आत्मा ये पर्याय शब्द हैं, अर्थात् एक ही चेतन तत्त्व के लिए वे प्रयुक्त हैं।

33. नाणं च दंसणं चेव...एवं जीवस्स लक्खणं ॥ **उत्तराध्ययनसूत्र**, २८.११

34. प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्। **तत्त्वार्थसूत्र**, ५.१६

35. घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। **योगभाष्य**, ४.१०

एवमपरे साङ्ख्या आहुरित्यर्थः। **योगवार्तिक**, ४.१०

दे० **भारतीय तत्त्वविद्या**, पण्डित सुखलालजी, पृ. ५४

36. षड् जीणवर्णाः परमं प्रमाणं कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।

रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम् ॥

परं तु शुक्लं विमलं विशोकं... ॥

37. "The theory of Karmic colours is not peculiar to Jainas, but seems to have been part of the general pre-Aryan inheritance that was preserved in Magadha." *Philosophies of India*, The Bollingen Series, XXVI (1953), p. 251

38. दे० **विशेषावश्यकभाष्य**, गाथा १६३७-३८

39. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः। **तत्त्वार्थसूत्र**, ५.२३

40. *Pravacanasāra*. Sri Rayachanda Jaina Śāstramālā, No. 1, Ed. A. N. Upadhye, Introduction, p. LXXXI

41. स्निग्धरुक्षत्वाद् बन्धः । **तत्त्वार्थसूत्र,** ५.३३

42. *The Positive Sciences of the Ancient Hindus*. p. 97

43. उपरि निर्दिष्ट *Pravacanasāra*. Introduction, p. LXXXIII.

44. **भारतीय तत्त्वविद्या**, पण्डित सुखलालजी, बडौदा, १९५८, पृ. ४०

45. स्यादेतदसङ्ख्यातप्रदेशो लोकः अनन्तप्रदेशस्यानन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति विरोधस्ततो नानन्त्यमिति ? नैष दोषः, सूक्ष्मपरिणामावगाहनशक्तियोगात् । परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते, अवगाहनशक्तिश्चैषामव्याहता अस्ति । तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशे अनन्तानन्तानाम् अवस्थानं न विरुध्यते । **सर्वार्थसिद्धि,** ५.१०

46-47. गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः । **तत्त्वार्थसूत्र,** ५.१७

48. आकाशस्यावगाहः । वही, ५.१८

49. वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य [उपकारः] । वही, ५.२२

50. तत्र परमसूक्ष्मक्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहनक्षेत्रव्यतिक्रमकालः समय इत्युच्यते । **तत्त्वार्थभाष्य,** ५.१५

51. कालस्य प्रदेशप्रचयाभावज्ञापनार्थं... । **सर्वार्थसिद्धि,** ५.१

52. ...पुण कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ... । **आवश्यक चूर्णि** (रतलाम आवृत्ति), पृ. ३४०

53. कायवाङ्मनःकर्म योगः । स आस्रवः । **तत्त्वार्थसूत्र,** ६.१-२
यथा सरस्सलिलावाहि द्वारं तदास्रवकारणत्वाद् आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति व्यपदेशमर्हति । **सर्वार्थसिद्धि,** ६.२

54. आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः । वही, १.४

55. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः । **तत्त्वार्थसूत्र,** ८.१

56. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः । वही, ८.२

57. प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः । वही, ८.३

58. तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ । **सर्वार्थसिद्धि,** ८.३

59. कषायनिमित्तौ स्थित्यनुभावौ । वही, ८.३

60. दे० **तत्त्वार्थसूत्र** (गुजराती व्याख्या सहित), विवेचक पण्डित सुखलालजी, गूजरात विद्यापीठ, सूत्र ५.५ पर विवेचन ।

61. आस्रवनिरोधः संवरः । **तत्त्वार्थसूत्र,** ९.१

62. स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः । वही, ९.२

63. एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा। **सर्वार्थसिद्धि,** १.४

64. तपसा निर्जरा च। **तत्त्वार्थसूत्र,** ९.३

65. वही, ९.१९

66. वही, ९.२०

67. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। वही, १०.२

68. जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।
रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणियं॥
जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणामं च सो चेव। **प्रवचनसार,** १.५९-६०
ततः कुतः केवल-सुखयोर्व्यतिरेकः। अतः सर्वथा केवलं सुखमैकान्तिकमनुमोदनीयम्।
प्रवचनसार-तत्त्वदीपिकाटीका, गाथा १.६०

द्वितीय व्याख्यान
जैनदर्शन में मतिज्ञान

चार सोपान एवं मत्यादि ज्ञानपंचक

जैन पाँच प्रकार के ज्ञान का स्वीकार करते हैं - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। इन में प्रथम दो ज्ञान के क्रम में परिवर्तन किया जाय तो श्रुत, मति, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान होते हैं। अब स्मरण करें उन चार औपनिषदिक आध्यात्मिक सोपानों का यानि दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन का। द्वितीय सोपान श्रवण ही श्रुत है। तृतीय सोपान जो मनन है वही मति है। चतुर्थ सोपान निदिध्यासन में (ध्यान में) अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान समाविष्ट हैं, क्योंकि ये तीनों केवलिज्ञान हैं, योगिज्ञान हैं। केवलज्ञान तो शुक्लध्यानजन्य है ही। अवधि और मनःपर्याय ध्यानजन्य है, ऐसा जैन स्पष्टतः नहीं कहते। किन्तु जैन का अवधिज्ञान ही पातंजल योग का अतीत-अनागत-सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टज्ञान और बौद्ध दिव्यचक्षुज्ञान है और वहाँ वह ध्यानजन्य है। जैन मनःपर्यायज्ञान ही पातंजल योग का परचित्तज्ञान और बौद्ध चेतोपर्यज्ञान है और वहाँ वह ध्यानजन्य है। अतः जैनदर्शन को भी इन दो ज्ञानों का कारण आन्तरिक शुद्धि सहित विशेष ध्यान-समाधि को मानना चाहिए।

जैन प्रमाणशास्त्र निर्माण करने के लिए मनन का मतिज्ञान में परिवर्तन

मूल धातु **गम्** (जाना) से गमन और गति दो नाम बनते हैं। उनका अर्थभेद नहीं है। उसी प्रकार मूल धातु **मन्** (सोचना) से मनन और मति दो नाम बनते हैं। उनका भी अर्थभेद नहीं है। उपनिषदों में मनन के लिए 'मति' शब्दप्रयोग अनेक बार हुआ है। उसका निर्देश हमने किया है। तदुपरान्त, पूज्यपादने 'मति' का अर्थ मनन दिया है, इस की नोंध भी हम ले चुके हैं। श्रद्धा से प्रेरित मनुष्य गुरु के पास जाकर उपदेश सुनता है। यह श्रवण है, श्रुत है। पश्चात् जो सुना उस पर मनन करता है। यह मति है। मनन करनेवाला व्यक्ति अनायास ही प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान इत्यादि प्रमाणों का प्रयोग करता है। वह जिन प्रमाणों का प्रयोग करता है, उसे उन प्रमाणों के सम्बन्ध में शास्त्रीय ज्ञान होना आवश्यक नहीं है और उसे यह ध्यान भी नहीं होता कि उसने कौन कौन से प्रमाणों का प्रयोग किया है और उन प्रत्येक का स्वरूप क्या है व प्रत्येक का क्या नाम है ? अलबत्त, यह बात सत्य है कि मननप्रक्रिया में तर्कशास्त्रीय दृष्टि बिना या उस दृष्टि की सभानता के बिना वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों

का प्रयोग करता है। इस हकीकत का लाभ उठाकर जैन चिन्तकों ने (जिसमें नन्दिसूत्र आदि आगमों का भी समावेश होता है) मनन को 'मति' नामक विशेष ज्ञान में परिवर्तित करके, उन सभी प्रमाणों को उसमें समाविष्ट करके, प्रमुखतः प्रमाणशास्त्रीय दृष्टि से उसकी विचारणा की है। इस प्रकार मतिज्ञान उनके मतानुसार उन सभी प्रमाणों के लिए एक सामान्य नाम बन गया। साधक के लिए प्रमाणशास्त्र का शास्त्रीय ज्ञान आवश्यक नहीं है। प्रमाणशास्त्र से अनभिज्ञ भी अच्छा मनन कर सकता है और यही अध्यात्मविद्या में भी अपेक्षित है। कालान्तर में यह वस्तु ही विस्मृत हो गई हो ऐसा प्रतीत होता है और फलतः श्रुत के पश्चात् होने वाले मति का क्रम उलट दिया गया है, और मति तथा श्रुत का प्रमुखतः प्रमाणशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया गया है। इस प्रकार जैनों ने अपना अलग प्रमाणशास्त्र निर्माण करने के लिए एक बड़ा कदम उठाया। प्रत्येक दर्शन अपना अपना प्रमाणशास्त्र निर्माण करे उसमें कुछ गलत नहीं है और करना भी चाहिए, किन्तु जैन चिन्तकों ने आध्यात्मिक चार सोपानों की मूलभूत योजना को बिलकुल रद्द करके उसका नामोनिशान मिटा कर उस पर प्रमाणशास्त्र खड़ा करने का प्रयत्न किया वह अक्षम्य है। उसके बावजूद उन्होंने मनन में से परिवर्तित किए मतिज्ञान में कतिपय ऐसी बातें हैं जो मूल मनन की ओर निर्देश किए बिना रहती नहीं हैं और कतिपय प्रश्नों के उत्तर मूल मनन ही मति है ऐसी धारणा करने से मिल जाते हैं-अन्यथा नहीं मिलते हैं।

मतिज्ञान के प्रकार

आगमों में मतिज्ञान का वर्णन है और तत्त्वार्थसूत्र में आगमगत मतिज्ञान के वर्णानों का व्यवस्थित संकलन किया गया है। उसके आधार पर यहाँ समीक्षा-परीक्षापूर्वक मतिज्ञान विषयक विचारणा की जायेगी।

मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् (१-९) यहाँ पाँच ज्ञान बताये हैं। पश्चात् एक सूत्र (१-१३) आता है : **मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्**। सूत्र का अर्थ है-मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध ये सब शब्द पर्यायशब्द हैं-एकार्थक हैं। तात्पर्य यह है कि मति मति है, स्मृति मति है, संज्ञा मति है, चिन्ता मति है और अभिनिबोध भी मति है। अर्थात् मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध ये सब मति हैं। उसका अर्थ यह हुआ कि मति, स्मृति आदि मति के प्रकार हैं। इस वस्तु को दृष्टान्त से समझे। मनुष्य जीव है, हाथी जीव है, घोडा जीव है। इस अर्थ में मनुष्य, हाथी, घोडा, जीव अनर्थान्तर हैं। इसका अर्थ यह कि मनुष्य, हाथी, घोडा आदि का सामान्य नाम 'जीव' है। दूसरे शब्दों में मनुष्य, हाथी, घोडा

ये जीव के प्रकार हैं। उसी प्रकार ही मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये मति के प्रकार हैं। मतिज्ञान के प्रकारों में जो मतिज्ञान गिनाया गया है उसका संकुचित अर्थ है और वह है इन्द्रियप्रत्यक्ष। इस प्रकार 'मति' शब्द दो अर्थ में प्रयुक्त है। उसका विस्तृत अर्थ है-ऐसा ज्ञान जिसके प्रकार हैं इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध। उसका संकुचित अर्थ है इन्द्रियप्रत्यक्ष। विस्तृत अर्थवाले मति को **'मति-अ'** कहेंगे और संकुचित अर्थवाले मति को **'मति-ब'** कहेंगे। यदि प्रस्तुत सूत्र (१-१३) में आये हुए 'मति' शब्द को मति-अ के अर्थ में लिया जाय तो वह शब्द स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध का सामान्य नाम बन जायगा और परिणामतः इन्द्रियप्रत्यक्ष छूट जायगा और मति-अ में उसका समावेश नहीं होगा। तत्त्वार्थटीकाकार सिद्धसेनगणि कहते हैं कि मति का विषय वर्तमान है,[1] स्मृति का अतीत है,[2] इत्यादि। यह वस्तु इस हकीकत का समर्थन करती है कि प्रस्तुत सूत्र (१-१३) में 'मति' शब्द का अर्थ इन्द्रियप्रत्यक्ष है। संज्ञा प्रत्यभिज्ञा है। वह अतीत और वर्तमान उभय विषयक है।[3] चिन्ता भविष्यविषयक है।[4] वह भविष्य के विषय की विचारणा है। कतिपय चिन्तक चिन्ता को प्रमाणशास्त्रस्वीकृत तर्क समझते हैं। यह तर्क अनुमान का कारण है। अभिनिबोध भी मति-अ का एक प्रकार ही है। वह इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और चिन्ता का सामान्य नाम नहीं है, जो कि जैन ग्रन्थों में उसे सामान्य नाम के रूप में समझाया जाता है और इसी अर्थ में उसका प्रयोग किया जाता है। अतः पण्डित सुखलालजी अपने विवेचन में लिखते हैं : "अभिनिबोध शब्द सामान्य है। वह मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता इन सब ज्ञानों के लिए प्रयुकत होता है।" परन्तु महेन्द्रकुमार जैन जैसे कतिपय आधुनिक विद्वानोंने 'अभिनिबोध' का अर्थ अनुमान किया है, जो उचित प्रतीत होता है।[5] आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी प्रमाणमीमांसा स्वोपज्ञवृत्ति में जो कहा है उस पर से अभिनिबोध का अर्थ अनुमान स्पष्टतः सूचित होता है। यहाँ उन्हों ने कहा है : (इन्द्रियप्रत्यक्ष की अन्तिम कोटि) धारणा प्रमाण है और स्मृति फल है, पश्चात् स्मृति प्रमाण है और प्रत्यभिज्ञा (संज्ञा) फल है, पश्चात् प्रत्यभिज्ञा प्रमाण है और ऊह (चिन्ता) फल है, पश्चात् ऊह प्रमाण है और अनुमान फल है।[6] इस प्रकार इन्द्रियप्रत्यक्ष से अनुमान तक पूर्वपूर्व की कड़ी का प्रमाणभाव और उत्तरोत्तर कड़ी का फलभाव बताया गया है। वे कड़ियाँ हैं-इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अनुमान। यह निश्चित रूप से सूचित करता है कि, 'अभिनिबोध' शब्द के स्थान पर 'अनुमान' शब्द प्रयुक्त है और दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक है।

इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति आदि को मतिज्ञान के एक ही वर्ग में रखने का कारण

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है की परस्पर अत्यन्त भिन्न स्वभाववाले इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, चिन्ता, अनुमान जैसे ज्ञानों को मतिज्ञान (**मति-अ**) के एक ही वर्ग में रखने का कारण क्या है ? इसका उत्तर जैन चिन्तकों निम्न प्रकार देते हैं। इन सभी ज्ञानों का कारण मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से, इन सब को मतिज्ञान के एक ही वर्ग में रखा गया हैं।[7] यहाँ मतिज्ञानावरणीय कर्म के अस्तित्व पर मतिज्ञान के अस्तित्व का आधार हो, ऐसा सूचित होता है। वास्तव में मतिज्ञान के अस्तित्व के कारण मतिज्ञानावरणीय कर्म का अस्तित्व है। मतिज्ञानावरणीय कर्म की विभावना मतिज्ञान की विभावना पर आधारित है; परन्तु इस से विपरीत मतिज्ञान की विभावना मतिज्ञानावरणीय कर्म की विभावना पर आश्रित नहीं है। मतिज्ञान का स्वरूप क्या है ? और उसमें परस्पर भिन्न स्वभाववाले ज्ञानों का समवेश क्यों किया गया है ?-इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के सन्तोषप्रद उत्तर किसी जैन ग्रन्थ में नहीं हैं। जो उत्तर दिया गया है वह मात्र पारिभाषिक, साम्प्रदायिक और dogmatic है, तार्किक या बुद्धिगम्य नहीं है। इस प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर तो यह है कि मति यह औपनिषदिक चार सोपानों में से तृतीय सोपान मनन है और मनन में इन सभी ज्ञानों या प्रमाणों का प्रयोग होता है। अतः मनन को एक प्रकार के ज्ञान (मतिज्ञान) में जैनों ने परिवर्तित कर दिया फिर भी वह मूलतः मनन है इस हकीकत का अवशेष मतिज्ञान के एक ही वर्ग में इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, आदि के समावेश की जैन मान्यता में रह गया है।

मतिज्ञान में श्रुत का समावेश क्यों नहीं ?

जैनों द्वारा जिसका उत्तर देना चाहिए ऐसा द्वितीय महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि परस्पर अत्यन्त भिन्न स्वभाववाले इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति आदि को मतिज्ञान के एक वर्ग में रखा तो श्रुत (आगमप्रमाण, शब्दप्रमाण) का समावेश भी मतिज्ञान में क्यों नहीं किया ? ऐसा तो क्या है जो जैनों को वैसा करने से रोकता है ? जैनों का उत्तर यही है कि उन ज्ञानों का कारण मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है जब कि श्रुत का कारण श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है और कारणभेद से उनका भेद है। यह उत्तर भी पारिभाषिक, साम्प्रदायिक और dogmatic होने से ग्राह्य या स्वीकार्य नहीं है।-इतना ही नहीं अपि तु इस उत्तर के विषय में भी प्रश्न उपस्थित होता है कि दो भिन्न ज्ञानावरणीय कर्म - मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय - की कल्पना करने की आवश्यकता क्या थी ? एक मतिज्ञानावरणीय कर्म से नहीं चलता ? यदि इन्द्रियप्रत्यक्ष,

स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, चिन्ता, अनुमान जैसे अत्यन्त भिन्न स्वभाववाले ज्ञानों के लिए विभिन्न ज्ञानावरणीय कर्म की कल्पना नहीं की गयी तो श्रुत के लिए अलग ज्ञानावरणीय कर्म की कल्पना क्यों की गयी ? जैन इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति आदि को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं तथापि उनके आवरणीय कर्म स्वतन्त्र नहीं माने हैं, तो फिर श्रुत का स्वतन्त्र आवरणीय कर्म क्यों माना गया ? तदुपरान्त, इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति आदि को जैन मुख्यतया परोक्ष मानते हैं, उसी तरह श्रुत भी परोक्ष ही है। तो श्रुत को मति के वर्ग से अलग क्यों रखा गया ? श्रुत का मति में समावेश कर के श्रुत को भी मति क्यों नहीं माना ? इस प्रश्न का वास्तविक उत्तर यह है कि जैनसम्मत मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों की मान्यता के मूल में औपनिषदिक चार सोपानों की योजना है और इस योजना में मनन पूर्वे मनन से अलग श्रवण सोपान अनिवार्य है, इस मूल हकीकत ने ही जैनों को मति में श्रुत का समावेश करने से रोका हो ऐसा प्रतीत होता है। औपनिषदिक चार सोपानों में द्वितीय और तृतीय सोपान श्रवण और मनन के स्थान पर जैनोंने अपने ज्ञानपंचक के वर्गीकरण में श्रुत और मति को स्थान दिया है (अलबत्त, क्रम ऊलटा दिया है)। मनन पूर्वे श्रवण की एक स्वतन्त्र सोपान के रूप में अनिवार्यता का प्राचीन अवशेष जैनों के ज्ञानपंचक में मति से श्रुत की स्वतन्त्र स्वीकृति में रह गया है, अन्यथा श्रुत को भी मति में समाविष्ट करने में उनकों कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इससे यह भी निश्चित रूप से फलित होता है कि मतिज्ञानावरणीय कर्म, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म, इत्यादि ज्ञानावरणीय कर्म के भेदों की व्यवस्था भी इतनी प्राचीन नहीं है जितनी प्राचीन चार सोपानों की व्यवस्था है।

मतिज्ञान का निमित्तकारण और मनन का निमित्तकारण

जैन मतिज्ञान (मति-अ) के साधकतम कारण की चर्चा करते हैं। साधकतम कारण के लिए उमास्वाति 'निमित्तकारण' शब्द का प्रयोग करते हैं। मतिज्ञान (मति-अ) में समाविष्ट इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति इत्यादि ज्ञानों में से कोई इन्द्रियनिमत्तक है, कोई मनोनिमित्तक है, तो कोई उभयनिमित्तक है। अतः उमास्वाति लिखते हैं-**तद् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।** **(१-१४)**। यह सूत्र बताता है कि मति **(मति-अ)** का निमित्तकारण इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (=मन) है। इस सूत्र की समजूती भाष्य में निम्न प्रकार है। मति के दो भेद होते हैं-इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान और मनोनिमित्त मतिज्ञान।[8] मात्र इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान तो निर्विकल्प इन्द्रियप्रत्यक्ष ही है, क्योंकि वह मनोव्यापार रहित है, विचारशून्य है। सविकल्प इन्द्रियप्रत्यक्ष तो इन्द्रिय और मन उभय निमित्तकारणों से जन्य हैं, अतः हम उसका समावेश कहाँ करेंगे ?- इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान में या मनोनिमित्त मतिज्ञान में ? संभवित उत्तर यह है कि उसका समावेश

इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान में करना चाहिए क्योंकि सविकल्प इन्द्रियप्रत्यक्ष में इन्द्रियव्यापार प्रधान है जब कि मनोव्यापार गौण है, अल्प है, अदृश्य है। मतिज्ञान के प्रकार स्मृति और तर्क दोनों को मनोनिमित्त मानने चाहिए। प्रत्यभिज्ञा और अनुमान के बारे में, जो कि दोनों इन्द्रिय और मन दोनों निमित्तों से जन्य हैं तथापि उनको मनोनिमित्त ही मानने चाहिए क्योंकि उनकी उत्पत्ति में मनोव्यापार प्रधान है जब कि इन्द्रियव्यापार गौण है। तत्त्वार्थसूत्र की अपनी टीका में सिद्धसेनगणि प्रस्तुत सूत्र को समझाते है और इस सूत्र के आधार पर मतिज्ञान के तीन भेद करते हैं-इन्द्रियनिमित्त, मनोनिमित्त और इन्द्रिय-मनउभयनिमित्त।[9] वे कहते हैं कि ऐसा मतिज्ञान है जिसका निमित्तकारण मात्र इन्द्रिय है। जिन जीवों को मन नहीं हैं उन जीवों के विषय में अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के विषय में तो मात्र इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान ही होता है।[10] इसके आधार पर क्या हमें यह समझना चाहिए कि जो मनयुक्त (संज्ञी पंचेन्द्रिय) जीव हैं, उनको मात्र इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान संभवित ही नहीं है, अर्थात् शुद्ध निर्विकल्प इन्द्रियप्रत्यक्ष का होना असम्भव है ? वे स्मृति को मात्र मनोनिमित्त मतिज्ञान मानते हैं ।[11] वे सविकल्पक इन्द्रियप्रत्यक्ष को उभयनिमित्त मानते हैं।[12] इस से सूचित होता है कि इस से पूर्व निर्विकल्प इन्द्रियप्रत्यक्ष की भूमिका रूप मतिज्ञान मात्र इन्द्रियनिमित्त होना चाहिए। उन्होंने प्रत्यभिज्ञा, अनुमान और चिन्ता (तर्क) के निमित्तकारण के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है, परन्तु हम कह सकते हैं कि प्रथम दो उभयनिमित्त हैं जब कि चिन्ता मात्र मनोनिमित्त है। प्रत्यभिज्ञा का विषय अतीत और वर्तमान होने से उसे उभयनिमित्त मान सकते हैं। अनुमान लिंगदर्शन और व्याप्तिस्मृति ये उभय निमित्त जन्य होने से, उसे उभयनिमित्तक मान सकते हैं। चिन्ता या तर्क तो मनोनिमित्त है ही।

यहाँ एक वस्तु ध्यान में रखना चाहिए कि मनन एक प्रक्रिया है, चिन्तनप्रवाह है, जिसमें इन्द्रियप्रत्यक्षादि का योगदान है, तथापि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व प्रवाह में दिखाई नहीं देता, वे सब मिलकर एक अखण्ड प्रवाह बनता है, उनके अस्तित्व का उसमें निगलन होता है, अतः यहाँ उनके अपने स्वतन्त्र निमित्तों की चर्चा अनुचित है-निरर्थक है। वास्तव में मनन के, चिन्तन के - एक अखण्ड चिन्तनप्रवाह के निमित्त-कारण की चर्चा करना ही उपयुक्त है, सार्थक है। इस प्रकार सोचने से मनन का निमित्त-कारण मात्र मन ही है ऐसा कहना चाहिए। इस अर्थ में मति मात्र मनोनिमित्त है।

मतिज्ञान के अवग्रहादि भेद

उमास्वाति मानते हैं कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार मतिज्ञान के भेद हैं, मतिज्ञान की क्रमिक भूमिकाएँ हैं। **अवग्रहेहावायधारणाः** । (१-१५)। सभी जैन ग्रन्थ इन चार को इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही लक्ष में रखकर समझाते हैं। वस्तु कौन

सी जाति की है, उसके विशेष गुण क्या हैं, इन विशेषताओं से रहित उस वस्तु का जो केवल सामान्य ज्ञान होता है वह अवग्रह है।[13] उदाहरणार्थ, गहन अन्धकार में पैर में कोई स्पर्श होने से 'कुछ है' ऐसा ज्ञान होता है। इस ज्ञान में पता नहीं लगता कि कौन सी वस्तु का स्पर्श हुआ है। ऐसा अव्यक्त ज्ञान अवग्रह कहा जाता है। अवगृहीत विषय क्या है यह विशेषतः जानने के लिए शुरू हुई विचारणा जो अनेक विकल्प (alternatives) उपस्थित करती है वह ईहा है। उदाहरणार्थ, जो स्पर्शानुभव हुआ उसमें लम्बाई का, वृत्ताकार-नलाकार का अनुभव है। स्पर्शानुभव का सामान्य विश्लेषण कुछ ऐसे सामान्य धर्म बताते हैं जो एकाधिक वस्तुओं में सम्भवित हो सकते हैं। ये वस्तुएँ अनुभव के सम्भवित विषयों के रूप में विकल्पतः उपस्थित होती हैं। रज्जु और सर्प विकल्प के रूप में उपस्थित होते हैं। रज्जु होगा या सर्प ? इस प्रकार ईहा संशय सदृश प्रतीत होती है। परन्तु ईहा में विशेष निश्चय की ओर प्रवणता-गति होती है।[14] ईहा पश्चात् उसके द्वारा उपस्थित विकल्पोंका परीक्षण करके, स्पर्शानुभव का विशेष विश्लेषण करके, उस के आधार पर एक के बाद एक विकल्प को दूर करते हुए (=अवाय) अन्ततः एक ही विकल्प को निर्णय के रूप में स्थापित करना अवाय है।[15] सर्प के स्पर्श में चिकनाई होती है, यह स्पर्श तो खुरदरा है। सर्प होता तो सरके बिना या फुफकार किये बिना नहीं रहता अतः यह सर्प का स्पर्श नहीं है। इस प्रकार सर्प का विकल्प दूर करके वह रज्जु का ही स्पर्श है, रज्जु अनुभव का विषय है, इस निर्णय पर आना अवाय है। पश्चात् अवाय रूप निश्चय कुछ समय तक टिका रहता है, जिसे धारावाही प्रत्यक्ष भी कहा जाता है,, किन्तु बाद में इन्द्रिय का अन्य विषय के साथ सन्निकर्ष होने से या मन का विषयान्तर होने से निश्चय लुप्त हो जाता है, लेकिन अपना संस्कार छोड जाता है। यह संस्कार भविष्य में योग्य निमित्त प्राप्त होने से जाग्रत होकर पूर्व में जिस विषय का निश्चयात्मक अनुभव किया था उसका स्मरण कराता है। इस प्रकार अन्तिम निश्चय का धारा रूप में कुछ काल टिका रहना, इस निश्चय ने अपने पीछे छोडे संस्कार का चित्त में पडा रहना, इस संस्कार के जाग्रत होने से स्मरण होना-इन तीनों व्यापारों का धारणा में समावेश किया जाता है।[16]

मतिज्ञान के अवग्रहादि भेदों में अव्यवस्था एवं मनन

उमास्वाति के अनुसार, जैसा हमने देखा, इन्द्रियप्रत्यक्ष ही एक मात्र इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान है, जब कि शेष मनोनिमित्त मतिज्ञान हैं। उमास्वाति पाँच बाह्येन्द्रियजन्य पाँच प्रत्यक्षोंमें प्रत्येक के अवग्रहादि चार भेद मानते हैं, अतः बीस भेद हुए। इस प्रकार

इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान के बीस भेद हुए । यदि स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन प्रत्येक के अवग्रहादि चार चार भेद माना जाय तो अन्य सोलाह भेद होते हैं। किन्तु उमास्वाति ने अन्य चार भेद ही माने हैं। अर्थात् उन्होंने २० + ४ = २४ भेद ही माने हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने मनोनिमित्त मतिज्ञानों में से मात्र एक के ही अवग्रहादि चार भेद माने हैं।[17] यह एक मनोनिमित्त मतिज्ञान कौन सा है ? जैन चिन्तक स्मृति आदि चार में से किसी को भी इस मनोनिमित्त मतिज्ञान मानते हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। उन्होंने तो सुखादिविषयक मनोनिमित्त मानस प्रत्यक्ष रूप मनोनिमित्त मतिज्ञान के अवग्रहादि चार भेद माने हैं।[18]

बाह्येन्द्रियजन्य पाँच प्रत्यक्षों में अवग्रह आदि चार भूमिकाएँ स्वीकृत भी हैं और स्पष्टत: घटित भी की गई हैं। मानस प्रत्यक्ष में ये चार भूमिकाएँ स्वीकृत हैं किन्तु किसी ने घटित नहीं की है। स्मृति आदि चार मनोनिमित्त मतिज्ञानों में तो अवग्रह आदि चार भूमिकाओं का स्वीकार ही नहीं किया गया है तो घटित करने की बात ही नहीं रहती। इस अव्यवस्था का कारण क्या है ? वास्तव में तो जैन चिन्तकों ने मतिज्ञान के प्रत्येक प्रकार में इन चार भूमिकाओं का स्वीकार करना चाहिए और घटित भी करना चाहिए किन्तु बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी भी मतिप्रकार में ये भूमिकाएँ स्वीकारना या घटित करना सम्भव नहीं हैं। वस्तुत: अवग्रह आदि ये चार भूमिकाएँ मनन की है। जब जैन चिन्तकों ने मनन को मतिज्ञान नामक खास विशेष ज्ञान में परिवर्तित कर दिया तब उन्होंने मनन की भूमिकाएँ भी मतिज्ञान में संक्रान्त (transfer) कर दी, जिससे अव्यवस्था प्रतीत होती है। मनन की चार भूमिकाओं को इन्द्रियप्रत्यक्ष में लागू करके जैन चिन्तकोंने अपने तर्कशास्त्र में इन्द्रियप्रत्यक्ष का अपना विशिष्ट सिद्धान्त निर्माण किया।

अवग्रहादि भूमिकाएँ मनन की है

अवग्रह आदि चार भूमिकाओं को मनन की भूमिकाओं के रूप में सरलता से समझा सकते हैं और वे मनन की भूमिकाएँ हैं इसका स्पष्ट सूचन प्राचीन अंग आगम ज्ञाताधर्मकथा (प्रथम अध्ययन, ३५) में उपलब्ध है। वहाँ यह वाक्य आता है - **तए णं से सुमिणपाढगा सेणियस्स रण्णो एवमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ जाव हियया तं सुमिणं ओगिण्हंति। ओगिण्हंता ईहां अणुपविसंति...।** (शृत्वा... अवगृह्णन्ति। अवगृह्य ईहाम् अनुप्रविशन्ति...।) रानी को स्वप्न आता है। रानी राजा को बताती है। राजा स्वप्नपाठकों को बुलावा भेजते हैं, उनको स्वप्न से अवगत कराते हैं और अर्थघटन करने को कहते हैं। सर्व प्रथम स्वप्नपाठक राजा-रानी जो कहते हैं वह सुनते हैं (श्रवण)।

पश्चात् उसका सामान्य अर्थ (meaning) ग्रहण करते हैं (अवग्रह)। पश्चात् विशेष अर्थ (तात्पर्यार्थ) सोचते हैं जो अनेक विकल्प (alternatives) उपस्थित करता है। यह है ईहा। तत् पश्चात् उन विकल्पों पर विशेष विचारणा-परीक्षा करके एक के बाद एक विकल्प को दूर करके अन्ततः एक विकल्प को निर्णय के रूप में स्थापित किया जाता है। यह है अवाय। इस निर्णय-तात्पर्यार्थ को मन में धारण करके (धारणा) बाद में अन्य वस्तु के विचार की ओर बढते हैं। उद्धृत वाक्य में प्रथम दो भूमिकाओं अवग्रह और ईहा का उल्लेख है, किन्तु वाद की दो भूमिकाओं की हम कल्पना कर सकते हैं। वाक्य अत्यन्त स्पष्टतः सूचित करता है कि चार भूमिकाएँ मनन की हैं। अवग्रह से प्रारम्भ होकर धारणा तक समग्र प्रक्रिया मनन की है। इस प्रकार अवग्रहादि चार भूमिकाएँ समग्र मनन की प्रक्रिया में घटित होती हैं, किन्तु मनन में प्रयुक्त किसी भी प्रमाण में—इन्द्रियप्रत्यक्ष अतिरिक्त - घटित नहीं होती। जिन्होंने मनन को एक विशिष्ट प्रकार के ज्ञान-मतिज्ञान-में परिवर्तित किया वे जैन चिन्तक इन चार भूमिकाओं को मतिज्ञान में लागू करने की बात का त्याग नहीं कर सके, परन्तु वे मतिज्ञान के प्रत्येक प्रकार में न तो चार भूमिकाएँ स्वीकृत कर सके या न तो घटित कर सके। इस प्रकार उन्होंने मनन की चार भूमिकाओं की विरासत अवशेष रूप में मतिज्ञान में कायम रखी। उपरान्त, मनन की इन चार भूमिकाओंने इन्द्रियप्रत्यक्ष के सविस्तृत सिद्धान्त का निर्माण करने में जैन तार्किकों को बड़ी सहाय की।

अवग्रहादि के बहुग्राही आदि भेद और मनन

उमास्वाति अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा में से प्रत्येक के बहुग्राही, एकग्राही, बहुविधग्राही, एकविधग्राही, क्षिप्रग्राही, अक्षिपग्राही, निश्रितग्राही, अनिश्रितग्राही, संदिग्धग्राही, असंदिग्धग्राही, ध्रुवग्राही, अध्रुवग्राही ऐसे बारह बारह भेद गिनाते हैं।[19] इन सभी भेदों की समजूती देना जरूरी नहीं है, किन्तु एक निरीक्षण तो करना चाहिए कि इन भेदों की दीं गई परम्परागत समजूती अनेक स्थलों पर जचती नहीं है और तर्क के सामने टिक नहीं सकती। उदाहरणार्थ, अवाय के विषय में कहना कि उसका एक भेद संदिग्धग्राही अवाय है, यह तो वदतोव्याघात है - 'माता मे वन्ध्या' जैसी बात है, यदि वह अवाय है तो संदिग्धग्राही कैसे हो सकता है ? और यदि संदिग्धग्राही है तो अवाय कैसे हो सकता है ? ऐसा तो नहीं है कि कोई अन्य के भेद यहाँ अवग्रहादि में लागू कर दिए गये हो ? 'confused, muddled thinking' जैसे शब्द प्रचलित हैं। संदिग्ध, अस्पष्ट चिन्तन-मनन संभवित है।

व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह का सही अर्थघटन

व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह - इन्द्रियप्रत्यक्ष रूप मतिज्ञान की प्रथम भूमिका अवग्रह की भी दो अवान्तर भूमिकाएँ दी गई हैं। इन में प्रथम व्यंजनावग्रहकी भूमिका है और द्वितीय अर्थावग्रह की भूमिका। व्यंजनावग्रह अर्थात् व्यंजन का अवग्रह।[20] जैन यहाँ व्यंजन का अर्थ इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करते हैं। टीकाकार सिद्धसेनगणि लिखते हैं : **तत् पुनः व्यञ्जनं संश्लेषरूपं यदिन्द्रियाणां स्पर्शनादीनामुपकरणाख्यानां स्पर्शाद्याकारेण परिणतानां च यः परस्परं संश्लेषः तद् व्यञ्जनम्।** (१-१८) संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि किसी भी शब्द में से उसकी विविधव्युत्पत्तिक्षमता के कारण जिसे जो अर्थ चाहिए वह उस अर्थ नीकाल सकता है - चाहे वह अर्थ शब्दकोश में मिलता ही न हो। इसी कारण एक ही श्लोक के सौ अर्थ देनेवाले शतार्थी जैसे ग्रन्थों की संस्कृत में रचना हुई है। जैन चिन्तकोंने संस्कृत भाषा की इस विशेषता का अनुचित लाभ ऊठा कर 'व्यंजन' शब्द का अर्थ 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' किया है। व्यंजनावग्रह में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ही ग्रहण होता है। पश्चात् इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध अर्थ-वस्तु का सामान्यतः ग्रहण होता है। यह अर्थावग्रह है। 'अर्थ' शब्द का अर्थ यहाँ 'वस्तु' किया गया है।[21] जो इन्द्रिय के सम्बन्ध में सन्निकर्ष सम्भवित नहीं है वहाँ सीधा ही अर्थावग्रह होता है। 'व्यंजन' शब्द का अर्थ 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' करना विचित्र सा लगता है। यहाँ व्यंजन का प्रचलित अर्थ छोड कर इस प्रकार अर्थ करना यह सूचित करता है कि जैन चिन्तक कोई प्राचीन स्वाभाविक मूल अर्थ के उपर काल्पनिक नया अर्थ थोप रहे हैं। 'व्यंजन' शब्द का प्रचलित अर्थ है 'शब्द'। प्रथम शब्द का ग्रहण होता है और पश्चात् शब्दार्थ का ग्रहण होता है। यह दिखाता है कि 'अर्थावग्रह' शब्दगत 'अर्थ' शब्द का अर्थ वस्तु नहीं है, अपितु शब्दार्थ (meaning) है। शब्दग्रहण की प्रक्रिया दीर्घ है। शब्द अनेक अक्षरों से बना होता है। अक्षर तो उच्चारण के साथ ही नष्ट हो जाता है। यदि शब्दस्थ सभी अक्षर एकसाथ गृहीत नहीं हो सकते तो शब्द का ग्रहण कैसे होगा ? इस प्रश्न के समाधान के हेतु भारतीय चिन्तकों को शब्दग्रहण की सुदीर्घ प्रक्रिया समझानी पड़ी है जिसकी चर्चा यहाँ प्रस्तुत नहीं है। शब्दग्रहण के पश्चात् शब्दार्थग्रहण की भी प्रक्रिया समझाने में आती है। शब्द के ग्रहण के बाद संकेत का स्मरण होता है और पश्चात् शब्दार्थ का ग्रहण होता है। शब्दार्थग्रहण के पश्चात् वाक्यार्थ के ग्रहण की विशेष प्रक्रिया है। शब्दार्थग्रहण और वाक्यार्थग्रहण दोनों अर्थावग्रह में समाविष्ट हैं। इस प्रकार मनन जिसका आधार ले कर आगे बढ़ता है वह मूल आधार व्यंजनावग्रह है और पश्चात् अर्थावग्रह से स्वयं मनन की

प्रक्रिया आगे बढ़ती है। 'व्यंजन' और 'अर्थ' का ऐसा अर्थ जैन परम्परा में भी प्रसिद्ध है। देखिए निम्नलिखित प्रसिद्ध गाथा -

काले विणये बहुमाणे उवहाणे तह अणिण्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभए अट्ठविहो णाणमायारो ॥

जैन परम्परा में जहाँ जहाँ 'व्यंजन' और 'अर्थ' का प्रयोग साथ साथ हुआ है वहाँ वहाँ उनका अर्थ क्रमशः 'शब्द' और 'meaning' होता है। तत्त्वार्थसूत्रभाष्य (१.३५) पर अपनी टीका में सिद्धसेन लिखते हैं - **व्यञ्जनं शब्दः, तस्यार्थः अभिधेयः वाच्यः ।**

तदुपरांत जैन परम्परा में अध्यापनपद्धति में प्रथम शिष्य को सूत्र, गाथा के शब्दों का ही ग्रहण कराया जाता है, उसे योग्य उच्चारण सहित कंठस्थ कराया जाता है; तत् पश्चात् उसे गाथा के अर्थ को समझाया जाता है, अर्थ का ग्रहण कराया जाता है। इस प्रकार शिष्य प्रथम व्यंजन और बाद में अर्थ का ग्रहण करता है।

मनन के आधार और आदि ऐसे व्यंजनावग्रह (शब्दग्रहण) और अर्थावग्रह (शब्दार्थग्रहण) को इन्द्रियार्थसन्निकर्षावग्रह और वस्तुअवग्रह में परिवर्तित करके जैन चिन्तकोंने इन्द्रियप्रत्यक्ष के अपने सिद्धान्त में निर्विकल्प प्रत्यक्ष पूर्व एक भूमिका दाखिल की, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की चर्चा दाखिल की और प्रमुखतः तो इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व-अप्राप्यकारित्व की समस्या की विचारणा दाखिल की।

श्रुतज्ञान व मतिज्ञान के क्रम एवं विषय

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के ग्राह्य विषयों के सम्बन्ध में निम्न सूत्र है : **मतिश्रुतयोः निबन्धः सर्वद्रव्येषु असर्वपर्यायेषु।** (१.२७) अर्थात्, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का व्यापार सर्व द्रव्यों में है, परन्तु सर्व द्रव्यों के सर्व पर्यायों में नहीं है, अल्प पर्यायों में है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि अत्यन्त अमूर्त द्रव्यों धर्मद्रव्य आदि और उनके पर्याय मतिज्ञान के विषय किस प्रकार बन सकते हैं ? क्या वे इन्द्रियप्रत्यक्ष के विषय बन सकते हैं ? स्मृति के विषय बन सकते हैं ? प्रत्यभिज्ञा के विषय बन सकते हैं ? चिन्ता (या तर्क) के विषय बन सकते हैं ? अनुमान के विषय बन सकते हैं ? उनके लिए अत्यन्त अमूर्त द्रव्यों को विषय बनाना कठिन है। किन्तु यदि मति को मनन के रूप में समझा जाय तो समाधान सरल हो जाता है। गुरुमुख से मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्यों के बारे में तथा उनके परिमित पर्यायों के बारे में सुनने के बाद (श्रवण पश्चात्) वे सभी द्रव्य और पर्याय मनन के विषय बन सकते हैं। इस सन्दर्भ में टीकाकार सिद्धसेनगणि

का वचन ध्यानार्ह है । वे कहते हैं **मतिज्ञानी तावत् श्रुतज्ञानेनोपलब्धेषु अर्थेषु...द्रव्याणि ध्यायति (मनुते) तदा मतिज्ञानविषय: सर्वद्रव्याणि न तु सर्वा: पर्याया: .... तथा श्रुतग्रन्थानुसारेण सर्वाणि धर्मादीनि जानाति, न तु तेषां सर्वपर्यायान्** । (१.२७) यह स्पष्टत: दिखाता है कि जिसे जैन मतिज्ञान कहते हैं वह मूलत: मनन है और प्रथम श्रवण (श्रुत) है और बाद में ही मति (मनन) है। श्रुत के आधार पर ही मनन (मति) चलता है। उमास्वाति लिखते हैं : **श्रुतं मतिपूर्वम्** । : (१.२०) प्रथम मति होती है और पश्चात् श्रुतज्ञान होता है। यहाँ मति का संकुचित अर्थ करके मात्र इन्द्रियप्रत्यक्ष समझने में आता है और कहा जाता है कि शब्द के सुनने (श्रावण प्रत्यक्ष) के पश्चात् ही शब्दार्थ का ज्ञान (श्रुतज्ञान) होने से श्रुतज्ञान के पूर्व मतिज्ञान अवश्य होता है । अर्थात्, पहले श्रावण प्रत्यक्षरूप मतिज्ञान होता है और पश्चात् शाब्दज्ञान (श्रुतज्ञान) होता है। यदि मति का अर्थ मनन किया जाय तो क्रम विपरीत हो जाता है। उपर उद्धृत सिद्धसेनगणिवचन 'मति' के 'मनन' अर्थ का समर्थन करता है और स्वयं उमास्वाति हमें कहते हैं कि मन का विषय श्रुत है, अर्थात् गुरुमुख से जो सुना उस पर मन मनन करता है। **श्रुतमनिन्द्रियस्य** । (२.२२) ये सब स्पष्टत: दिखाते है कि जैनोंने तृतीय सोपान मनन को ही विशेष प्रकार के ज्ञान मतिज्ञान में परिवर्तित कर दिया है - तथापि मूल मनन के अवशेष रह गये हैं ।

चार सोपानों की योजना में श्रद्धा (दर्शन) पश्चात् श्रवण का क्रम है। श्रवण का कारण श्रद्धा है। अध्यात्मविद्या में यह स्वीकार स्वाभाविक है। भगवत्गीता में भी कहा गया है कि **श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्** । अर्थात्, जिसे श्रद्धा हुई है वह गुरु से ज्ञान प्राप्त करता है। यह श्रुतज्ञान है। इस प्रकार श्रद्धा को श्रुतज्ञान का कारण माना गया है। इस श्रुतज्ञान के पूर्व श्रावण प्रत्यक्ष होने पर भी अध्यात्मविद्या या साधक को उसका कोई उपयोग नहीं है - यह अध्यात्म का सोपान नहीं बन सकता। अत: उसको श्रुतज्ञान का कारण मानने की अपेक्षा श्रद्धा को ही श्रुतज्ञान का कारण माना गया है। अध्यात्मविद्या में श्रुतज्ञान का कारण श्रावण इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं है अपितु श्रद्धा ही है ।

प्रमाणलक्षण

जैन तार्किक उस ज्ञान को प्रमाण मानतें हैं जो अविसंवादी भी हो[22] और व्यवसायात्मक भी हो[23] । अविसंवाद का अर्थ है ज्ञान और विषयस्वभाव के बीच मेल अर्थात् जो धर्म विषय में हो उसका ज्ञान में भी भासमान होना, एवं ज्ञान और तज्जन्य प्रवृत्ति के बीच संवाद । अविसंवादिता व्यवसायात्मकतायत्त है ।[24]

मति प्रकार परोक्ष प्रमाण

जैन तार्किकोंने इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान को परोक्ष प्रमाण माने हैं क्योंकि इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को साक्षात् होनेवाला वस्तु का यथार्थ ज्ञान उनके मतानुसार प्रत्यक्ष है।

अब हम मतिज्ञान के इन्द्रियप्रत्यक्ष आदि प्रकार के विषय में जैन तार्किकों ने जो कहा है उसको संक्षेप में कहने जा रहे हैं।

इन्द्रियप्रत्यक्ष - इन्द्रियप्रत्यक्ष के बारे में महत्त्वपूर्ण बातों की चर्चा की गई हैं। शेष कतिपय बात की नोंध करते हैं। जैन प्रमाणशास्त्र में जैन तार्किकोंने प्रमाणशास्त्रीय दृष्टि से इन्द्रियप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है - जो कि परमार्थतः तो वह परोक्ष प्रमाण है, किन्तु वे उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।[25] वे व्यवसायात्मक ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं अतः अवाय को ही प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। इहा में तो अभी निश्चय नहीं हुआ है, परन्तु निश्चय के लिए मात्र विचारणा होती है। अतः ईहा भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मानी जाती। और अवग्रह में तो निश्चय की ओर ले जानेवाली विचारणा का भी अभाव है। अवग्रह निर्विकल्प ज्ञान है। अतः वह भी प्रमाण की कोटि में नहीं आता है। बौद्ध मात्र निर्विकल्प प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। जैन तार्किकों ने इस बौद्धमत का बलपूर्वक समर्थ खण्डन किया है।[26]

स्मृति - योग्य निमित्तों की उपलब्धि से पूर्वानुभूत विषय के संस्कार जाग्रत होने से उस विषय का पुनः मनःपटल पर आना स्मृति है।[27] अतः स्मृति को संस्कारमात्रजन्य कही गई है। इस प्रकार स्मृति नूतन ज्ञान नहीं है, किन्तु अधिगत का ही ज्ञान है। स्मृति में हम संस्कारोद्‌बोध द्वारा पूर्वानुभव को ताजा करते हैं और पूर्वानुभूत विषय का स्मरण करते हैं। यह बताता है कि स्मृति अधिगतग्राही है और अर्थजन्य नहीं है। इसी कारण अधिकांश अजैन तार्किक स्मृति को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। जैन तार्किक स्मृति गृहीतग्राही होने पर भी उसे प्रमाण मानते हैं, क्योंकि वह अविसंवादी है।[28] अगृहीतग्राहित्व और गृहीतग्राहित्व प्रमाणता या अप्रमाणता का कारण नहीं है। प्रमाणता का कारण तो अविसंवाद है। और अविसंवाद तो अन्य ज्ञानों के सदृश स्मृति में भी है। तदुपरान्त, समस्त जगत का व्यवहार स्मृतिमूलक है। मानवप्रगति में अन्य ज्ञानों की अपेक्षा स्मृति का विशिष्ट प्रदान है। उपरान्त, स्मृति 'तत्' शब्दोल्लेखपूर्वक विषय को ग्रहण करती हैं।[29] 'तत्' शब्दोल्लेख पूर्वानुभव में होता नहीं है। इस प्रकार वह पूर्वानुभूत विषय को

तत्तावच्छिन्न रूप में ग्रहण करती है। प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम आदि प्रमाणों की उत्पत्ति स्मृति के बिना संभवित नहीं है। अत: प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणों की जनक होने से भी स्मृति प्रमाण हैं।[30] जैसे प्रत्यक्ष विसंवादी हो तब उसे हम अप्रमाण मानते हैं वैसे स्मृति भी विसंवादी हो तब उसे भी अप्रमाण मानना, अन्यथा उसे भी प्रत्यक्ष के समान ही प्रमाण के रूप में स्वीकार करनी चाहिए। और अर्थजन्यत्व होना या न होना प्रमाणता और अप्रमाणता का कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान का अर्थजन्यत्व सार्वत्रिक नहीं है।[31] अत: अविसंवादी होने के कारण स्मृति को प्रमाण के रूप में स्वीकारना ही चाहिए। यह है जैन तार्किकों का मत।

प्रत्यभिज्ञा - इन्द्रियप्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होनेवाला, एकता, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी, आपेक्षिक रूप से संकलना करनेवाला मानसज्ञान प्रत्यभिज्ञान है।[32] जो कि 'वह ही यह है' यह प्रत्यभिज्ञान में 'वह' अंश स्मरण का विषय है और 'यह' अंश प्रत्यक्ष का विषय है, तथापि 'वह ही यह है' यह समग्र संकलित विषय को - एकत्व को न तो स्मरण ग्रहण कर सकता है या न तो इन्द्रियप्रत्यक्ष। अत: इस संकलित विषय को ग्रहण करनेवाला स्मरण-प्रत्यक्षभिन्न एक स्वतंत्र प्रत्यभिज्ञा नामक स्वतन्त्र प्रमाण जैन तार्किको ने स्वीकृत किया है। वर्तमानग्राही प्रत्यक्ष और अतीतग्राही स्मरणमूलक जितने संकलनात्मक मानस ज्ञान हैं उनको प्रत्यभिज्ञा में जैन तार्किको ने समाविष्ट किया है। जिस एकत्व-स्थायित्व की धुरा पर जगत का समस्त व्यवहार चलता है उस एकत्व को प्रत्यभिज्ञान अविसंवादी रूप से जानता है। 'वह ही यह है' ऐसे ज्ञान को इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं मान सकते क्योंकि इन्द्रियाँ मात्र सन्निकृष्ट और वर्तमान विषय को ही जान सकती है जब कि 'वह' अंश तो असन्निकृष्ट और अतीत है। उसी प्रकार 'वह ही यह है' ऐसे ज्ञान को स्मरण भी नहीं मान सकते क्योंकि स्मरण मात्र अतीत और असन्निकृष्ट को ही जान सकता है जब कि 'यह' अंश तो वर्तमान और सन्निकृष्ट है। इन्द्रियप्रत्यक्ष और स्मरण दोनों में से एक भी 'वह' और 'यह' दोनों में व्याप्त - अतीत और वर्तमान दोनों में व्याप्त - एकत्व को ग्रहण नहीं कर सकते। अत: एकत्वग्राही प्रत्यभिज्ञा को जैन स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं।[33]

बौद्ध एकत्व को - स्थायित्व को असत् मानते हैं। अत: एकत्वग्राही प्रत्यभिज्ञा उनके अनुसार नितान्त भ्रान्त ज्ञान ही है। उपरान्त वे प्रत्यभिज्ञा को कोई एक ज्ञान नहीं मानते परन्तु प्रत्यक्ष और स्मरण दोनों का मिश्रण मात्र मानते हैं। जैन बौद्ध मत का खण्डन करते हैं।[34]

नैयायिक प्रत्यभिज्ञा को इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ही मानते हैं। वे उसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मतानुसार संस्कार या स्मरण रूप सहकारी के

बल से वर्तमानमात्रग्राही इन्द्रिय भी अतीतावस्थाविशिष्ट वर्तमान को ग्रहण कर सकती है अत: प्रत्यभिज्ञा की जनक बन सकती है। जैन तार्किक नैयायिकों के इस मत का खण्डन करके प्रत्यभिज्ञा को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करते हैं।[35]

नैयायिक 'उपमान' नामक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करते हैं। वृद्धजन से ज्ञात-अज्ञात दो वस्तुओं के सादृश्य को वृद्धवाक्य द्वारा जानने के पश्चात् अज्ञात वस्तु में जब उस सादृश्य का प्रत्यक्ष होता है तब वृद्धवाक्य का स्मरण होता है, परिणामत: वह वस्तु अमुक पदवाच्य है ऐसा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह उपमिति है। इस प्रकार सादृश्यप्रत्यक्ष और वृद्धवाक्यस्मरण से उत्पन्न होनेवाला संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान उपमिति है। जैन तार्किक नैयायिकसम्मत इस उपमान प्रमाण का प्रत्यभिज्ञा में अन्तर्भाव करते हैं, क्योंकि जैन तार्किक प्रत्यक्ष-स्मरणमूलक जितने संकलनाज्ञान हैं उन सभी का समावेश प्रत्यभिज्ञा में करते हैं।[36]

तर्क - उपलम्भ (प्रत्यक्ष) और अनुपलम्भ से उत्पन्न होनेवाला और साध्य-साधन के अविनाभाव (व्याप्ति) सम्बन्ध को ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क है।[37] संक्षेप में व्याप्तिग्राही ज्ञान तर्क है। व्याप्ति सर्वोपसंहारवाली होती है। सर्व काल में सर्व देश में जो धूम है वह अग्नि से ही उत्पन्न होता है, अग्नि के अभाव में कही भी कभी भी धूम नहीं हो सकता - ऐसा सर्वोपसंहारी अविनाभाव तर्क प्रमाण का विषय है। प्रत्यक्ष प्रमाण रसोईघर आदि में अनेक बार अग्नि के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष भले करे परन्तु उस सम्बन्ध की त्रैकालिकता और सार्वत्रिकता प्रत्यक्ष का विषय नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष सन्निकृष्ट वर्तमान विषय को ही जानता है और वह मुख्यत: अविचारक है।[38] अनुमान प्रमाण से भी इस व्याप्ति का ग्रहण सम्भवित नहीं है क्योंकि स्वयं अनुमान की उत्पत्ति व्याप्ति के ग्रहण के पश्चात् होती है। एक अनुमान की व्याप्ति यदि दूसरे अनुमान से गृहीत होती है ऐसा मानें तो इस दूसरे अनुमान की व्याप्ति को ग्रहण करने के लिए तीसरे अनुमान की और तीसरे अनुमान की व्याप्ति को ग्रहण करने के लिए चौथे अनुमान की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्थादोष होगा। अत: व्याप्तिग्राही प्रमाण के रूप में तर्क को मानना आवश्यक है।[39] बौद्ध तार्किक निर्विकल्प प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले सविकल्प प्रत्यक्ष को ही व्याप्तिग्राही मानते हैं। जैन तार्किक बौद्ध के इस मत का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि सविकल्प ज्ञान स्वयं ही बौद्ध मतानुसार अप्रमाण है तो इसके द्वारा गृहीत व्याप्ति में विश्वास कैसे कर सकते हैं ?[40] नैयायिक तर्क को न तो प्रमाण मानते हैं या न तो अप्रमाण। उनके मतानुसार तर्क तो प्रमाण का अनुग्राहक है। नैयायिको के इस मत का खण्डन करते हुए जैन तार्किक कहते

हैं कि जो स्वयं प्रमाण न हो वह अन्य प्रमाणों का अनुग्रह कैसे कर सकता है ?[41] जैन तार्किकों के अनुसार तर्क स्वयं अविसंवादी है एवं अविसंवादी अनुमान का जनक भी है अत: वह प्रमाण है, स्वतन्त्र प्रमाण है। सम्पूर्णत: साध्य और साधन के सर्वोपसंहारी व्याप्तिसम्बन्ध को ग्रहण करनेवाले तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकृत करना चाहिए। जहाँ जहाँ साधन का प्रत्यक्ष होता है वहाँ वहाँ साध्य का भी प्रत्यक्ष होता हैं और जहाँ जहाँ साध्याभाव का अनुपलम्भ से ग्रहण होता है वहाँ वहाँ साधनाभाव का भी अनुपलम्भ से ग्रहण होता है - इस उपलम्भ-अनुपलम्भ से तर्क उत्पन्न होता है। व्याप्तिग्राही यह तर्क रूप ज्ञान अविसंवादी होने से स्वतन्त्र प्रमाण है, ऐसा जैन तार्किक मानते हैं।

अनुमान - भगवतीसूत्र[42] और अनुयोगद्वारसूत्र में चार प्रमाणों में अनुमान प्रमाण का उल्लेख है। अनुयोगद्वारसूत्र तीन प्रकार के अनुमान गिनाता है - पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत्; बाद में प्रत्येक को सोदाहरण समझाता है।[43] वह, अनुमान के विषय की कालिक स्थिति के आधार पर भी अनुमान के तीन भेद करता है - अतीतग्राही, वर्तमानग्राही और अनागतग्राही।[44] स्थानांगसूत्र में चार प्रकार के हेतु गिनाये हैं - विध्यात्मक साध्यवाला विध्यात्मक हेतु, निषेधात्मक साध्यवाला विध्यात्मक हेतु, विध्यात्मक साध्यवाला निषेधात्मक हेतु और निषेधात्मक साध्यवाला निषेधात्मक हेतु।[45] अनुमान के अवयवों के विषय में दशवैकालिकनिर्युक्ति में दो, तीन, पाँच और दस अवयवों के चार विकल्प स्वीकारे गये हैं। वहाँ दस अवयवों की दो अलग तालिकाएँ हैं।[46] इस प्रकार आगमों में अनुमान विषयक विशेष विचारणा नहीं है।

बौद्ध तार्किकों एवं नैयायिकों ने अनुमान विषयक पुख्त विचारणा करके अनुमान सिद्धान्त की स्थापना कर दी उसके बाद जैन तार्किकोंने मंच पर प्रवेश किया है और सिद्धसेन दिवाकर विरचित न्यायावतार में सर्वप्रथम अनुमान की व्यवस्थित विचारणा हुई है तथा अकलंक के ग्रन्थों में जैन अनुमान सिद्धांत परिपक्व और पुष्ट बना है।

प्रत्यक्ष या शब्द (आगम) द्वारा ज्ञात साधन (हेतु, लिंग) से अज्ञात साध्य (लिंगी) का ज्ञान अनुमान है।[47] हम धुआँ, दूर पर्वत पर देखते हैं। उस पर से हम अनुमान करते हैं कि पर्वत पर अग्नि है। यहाँ धुआँ अग्नि का ज्ञान करानेवाला ज्ञापक साधन है। धुआँ के आधार पर अग्नि का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है। अत: अग्नि को साध्य कहा जाता है। यदि दो वस्तुओं के बीच व्याप्य-व्यापकभावसम्बन्ध हो तो ही व्याप्य वस्तु व्यापक वस्तु का ज्ञान कराती है। साधन हंमेशां व्याप्य होता है और साध्य हंमेशां व्यापक होता है। इस सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है। जिस स्थान में साध्य

को सिद्ध करना हो उसे पक्ष कहा जाता है। साध्य को जहाँ सिद्ध करना हो वहाँ ही उसके साधन का ज्ञान पक्षधर्मताज्ञान कहा जाता है। अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान आवश्यक है। उन के बिना अनुमान नहीं किया जा सकता। सपक्ष वह है जो पक्ष के अतिरिक्त ऐसी वस्तु है जहाँ साध्य का अस्तित्व ज्ञात है। विपक्ष वह है जो पक्ष के अतिरिक्त ऐसी वस्तु है जहाँ साध्य का अभाव ज्ञात है।

व्याप्ति अर्थात् व्याप्य होने पर व्यापक का होना ही अथवा व्यापक होने पर जहाँ व्यापक हो वहाँ ही व्याप्य का होना।[48] साधन का साध्य के बिना, नियम से नहीं होना यह साधन का साध्य के साथ अविनाभावसम्बन्ध है। इस अविनाभावसम्बन्ध ही व्याप्ति है। जैन मतानुसार व्याप्ति का ग्रहण तर्क से होता है। ऐसे कितने सम्बन्ध हैं जिनके सम्बन्धी के बीच व्याप्तिसम्बन्ध हो ? बौद्ध कहते हैं कि कार्यकारणभाव और स्वभावसम्बन्ध ये दो ही ऐसे सम्बन्ध हैं जिनके सम्बन्धी के बीच व्याप्तिसम्बन्ध होता है। उनके मतानुसार तदुत्पत्ति और तादात्म्य ये दो ही सम्बन्ध व्याप्ति के नियामक हैं। अन्य शब्दों में जितनी व्याप्तियाँ हैं वे सबका इन दो सम्बन्धों में पर्यवसान होता है। धुआँ और अग्नि के बीच व्याप्तिसम्बन्ध है क्योंकि उन दोनों के बीच कार्यकारणभाव है। वृक्षत्व और आम्रत्व के बीच व्याप्तिसम्बन्ध है क्योंकि उन दोनों के बीच स्वभावसम्बन्ध-तादात्म्यसम्बन्ध है। जैन तार्किकों के मतानुसार व्याप्ति को तादात्म्य और तदुत्पत्ति में सीमित करने की अपेक्षा इतना कहना ही पर्याप्त है कि साध्य-साधन दोनों के बीच अविनाभावसम्बन्ध है। यदि व्याप्ति को तादात्म्य और तदुत्पत्ति में सीमित किया जाय तो कार्यहेतु और स्वभावहेतु इन दो ही प्रकार के हेतु संभवित होंगे; परन्तु विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि कार्यहेतु और स्वभावहेतु के अतिरिक्त और भी अनेक हेतु हैं। कृत्तिकोदय से अतीत भरण्युदय का अनुमान तथा भविष्यत् शकटोदय का अनुमान होता है, किन्तु इनके बीच तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है। नोंध करनी चाहिए कि जैन तार्किक तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो सम्बन्धों के अतिरिक्त जिन सम्बन्धों में अविनाभाव देखते हैं उन सम्बन्धों के मूल में वास्तव में कार्यकारणभाव (तदुत्पत्तिसम्बन्ध) होता है यह सत्य सूक्ष्म विश्लेषण से प्रकट होगा।[49]

अनुमान के प्रकार - बौद्ध तार्किकों और नैयायिकों के समान जैन तार्किक भी अनुमान के स्वार्थानुमान और परार्थानुमान जैसे दो प्रकारों का स्वीकार करते हैं। स्वप्रयोजन और परप्रयोजन के आधार पर ये दो प्रकार होते हैं। स्वार्थानुमान अर्थात् 'अपने लिए अनुमान'। स्वार्थानुमान स्वप्रतिपत्ति के लिए है। वह मात्र अपने बोध या

निश्चय का कारण है। परार्थानुमान अर्थात् 'दूसरों के लिए अनुमान', परप्रतिपत्ति के लिए प्रयोजित अनुमान।[50]

हेतुलक्षण - बौद्ध तार्किक हेतु के तीन लक्षण मानते हैं - पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति। नैयायिक इन तीन के उपरान्त अन्य दो लक्षण - अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व - मिलाकर कुल पाँच लक्षण मानते हैं। जैन तार्किक बौद्ध तार्किक और नैयायिक के इन मतों का खण्डन करके हेतु का एक ही लक्षण स्वीकारते हैं और वह है - अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति।[51]

हेतुप्रकार - अकलंकदेव सामान्यत: हेतु के उपलब्धि और अनुपलब्धि ये दो भेद करके उपलब्धि के स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर छह प्रभेद करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र को हेतु के कुल पाँच भेद स्वीकार्य हैं। ये हैं - स्वभाव, कारण, कार्य, एकार्थसमवायी और विरोधी।[52]

हेत्वाभास - सद्हेतु न होने पर भी जो हेतु सद्हेतु जैसा दिखाई दे वह हेत्वाभास है। नैयायिक हेतु के पाँच लक्षण मानते हैं, अत: उनके अनुसार एक एक लक्षण के अभाव में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास बनते हैं। जैन हेतु का मात्र एक ही लक्षण अन्यथानुपपत्ति मानते हैं, अत: वस्तुत: उनके मत में अन्यथानुपपत्ति के अभाव में हेत्वाभास का भी सामान्यत: एक ही प्रकार होता है और वह है असिद्ध परन्तु अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक रीति से होता है अत: जैन उनके आधार पर अधिकांशत: तीन ही हेत्वाभास का स्वीकार करते हैं - असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक परन्तु अकलंक और उनके अनुयायी दिगम्बर जैन तार्किकोंने इन तीनों के उपरान्त अकिंचित्कर नामक चौथे हेत्वाभास का स्वीकार किया है।[53]

अवयव - नैयायिक न्यायवाक्य (अनुमान) के पाँच अवयव स्वीकारते हैं, यथा - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण (व्याप्तिसहित), उपनय और निगमन। मीमांसक उपनय और निगमन को क्रमश: हेतु और प्रतिज्ञा की पुनरुक्ति मात्र मानकर प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण इन तीन अवयवों का स्वीकार करते हैं। बौद्ध तार्किक अधिक से अधिक हेतु और उदाहरण (व्याप्ति सहित) दो अवयव और कम से कम मात्र एक अवयव हेतु स्वीकारते हैं। जैन न्यूनतम दो अवयव प्रतिज्ञा और हेतु का स्वीकार करते हैं, परन्तु श्रोता की योग्यता की अपेक्षा तीन, चार या पाँच अवयवों का भी स्वीकार करते हैं। ध्यानार्ह बात यह है कि दृष्टान्त के कथन को जैन तार्किको ने अनुमान का अंग नहीं माना (मात्र व्याप्तिकथन ही अनुमान का अंग है।)। अलबत्ता, वे श्रोता को समझाने के लिए दृष्टान्त की उपयोगिता का स्वीकार करते हैं।[54]

उपसंहार

इस प्रकार जैन चिन्तकों ने आध्यात्मिक चार सोपानों में से एक सोपान मनन को मतिज्ञान में परिवर्तित करके मतिज्ञान में इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान का समावेश करने का आधार भी मनन में से ही प्राप्त कर लिया और पश्चात् प्रत्येक को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करके जैन प्रमाणशास्त्र निर्माण कर दिया। श्रवण को श्रुतज्ञान में परिवर्तित करके उसे भी स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करके जैन प्रमाणशास्त्र को पूर्ण किया । जैन जिनको मुख्य प्रत्यक्ष मानते हैं वे अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (extrasensory perceptions) हैं और इसलिए वस्तुतः वे प्रमाणशास्त्र अर्थात् लोजिक के क्षेत्र में नहीं पड़ते हैं। वे प्रमाणशास्त्र का विषय नहीं हैं। वे तो पराचित्तशास्त्र (Parapsychology) के क्षेत्रमें पड़ते है, वे उसका विषय हैं।

टिप्पण

1. मतिज्ञानं नाम यदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं वर्तमानकालविषयपरिच्छेदि। **तत्त्वार्थाधिगमटीका,** १.३
2. स्मृतिज्ञानम् अतीतवस्त्वालम्बनम्... । वही, १.१३
3. संज्ञाज्ञानं नाम यत् तैरेवेन्द्रियैरनुभूतमर्थं प्राक् पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्षं पूर्वाह्ण इति। वही, १.१३
4. चिन्ताज्ञानमागामिनो वस्तुनः । वही, १.१३
5. महेन्द्रकुमार जैन सम्पादित **न्यायविनिश्चयविवरण,** भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४, द्वितीय भाग, हिन्दी प्रस्तावना, पृ. ११.
6. ततो धारणा प्रमाणं स्मृतिः फलम् । ततोऽपि स्मृतिः प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं फलम् । ततोऽपि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम् ऊहः फलम् । ततोऽपि ऊहः प्रमाणम् अनुमानं फलमिति । **प्रमाणमीमांसा-स्वोपज्ञवृत्ति,** १.१.३९
   यहाँ चिन्ता के लिए 'ऊह' शब्द का प्रयोग हुआ है और ऊह ही तर्क है। अभिनिबोध के लिए 'अनुमान' शब्द का प्रयोग हुआ है और अभिनिबोध ही अनुमान है।
7. किं तु मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तोपयोगं नातिवर्तन्त इति अयमत्रार्थो विवक्षितः । **सर्वार्थसिद्धि,** १.१३. **तत्त्वार्थसूत्र** १.१३ का पं. सुखलालजी का विवेचन।
8. तदेतत् मतिज्ञानं द्विविधं भवति-इन्द्रियनिमित्तम् अनिन्द्रियनिमित्तं च। **तत्त्वार्थभाष्य,** १.१४
9. एवं चैतद् द्रष्टव्यम्-इन्द्रियनिमित्तमेकम्, अपरमनिन्द्रियनिमित्तम्, अन्यदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति त्रिधा। **तत्त्वार्थटीका**, १.१४

10. तत्रैकमिन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं मत्याख्यम्, यथाऽवनिवारिदहनपवनवनस्पतिनामेकेन्द्रियाणां द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामसंज्ञिनां च पञ्चेन्द्रियाणाम् मनसोऽभावात्। वही, १.१४
11. अनिन्द्रियनिमित्तं स्मृतिज्ञानम्। वही, १.१४
12. इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं जाग्रदवस्थायां स्पर्शनेन मनसोपयुपक्तः स्पृशति उष्णमिदं शीतं नेति, इन्द्रियं मनश्चोभयं तस्योत्पत्तौ निमित्तं भवतीति। वही, १.१४.
13. विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः। **सर्वार्थसिद्धि**, १.१५.
    देखिए **तत्त्वार्थसूत्र** १.१५ पर पण्डित सुखलालजी का विवेचन।
14. अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा। **सर्वार्थसिद्धि**, १.१५
    देखिए **विशेषावश्यकभाष्य**, १८३-१८४.
    Studies in Jaina Philosophy, p. 41
    Akalaṅka's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy, p. 28
15. विशेषनिर्ज्ञानात् याथात्म्यावगमनमवायः। **सर्वार्थसिद्धि**, १.१५
16. तयणन्तरं तयत्थाविच्चवणं जो य वासणाजोगो।
    कालान्तरे य जं पुणरनुसरणं धारणा सा॥ **विशेषावश्यकभाष्य**, २९१
17. देखिए **तत्त्वार्थसूत्र** १.१५ पर पण्डित सुखलालजी का विवेचन।
18. *Jaina Philosophy and Religion*, Nagin J. Shah (Tr.), Motilal Banarsidass, Delhi, 1998, p. 180-181
19. **तत्त्वार्थसूत्र**, १.१६
20. व्यञ्जनस्यावग्रहः। वही, १.१८
21. अर्थस्य। वही, १.१७
    चक्षुरादिविषयोऽर्थः। **सर्वार्थसिद्धि**, १.१७। देखिए पण्डित सुखलालजी का विवेचन सूत्र १.१७ और १.१८
22. अविसंवादकं प्रमाणम्। **अकलंकग्रन्थत्रय (= अकत्रय)**, पृ. ४
23. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्। **प्रमाणमीमांसा**, १.१.२
24. अविसंवादकत्वं निर्णयायत्तम्। **अकत्रय**, पृ. २०
25. इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं। **विशेषावश्यकभाष्य**, ९५.
26. *Akalaṅka's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy*, p. 218-226.
27. वासनोद्बोधहेतुका... स्मृतिः। **प्रमाणमीमांसा**, १.२.३
28. सा च प्रमाणम् अविसंवादित्वात्। वही, **स्वोपज्ञवृत्ति**, १.२.३
29. ...तदित्याकारा स्मृतिः। वही, १.२.३
30. किञ्च, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानाय दत्तो जलाञ्जलिः, तया व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगात्; लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरणपूर्वकमनुमानमिति हि सर्ववादिसिद्धम्। ततश्च स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति सिद्धम्। वही, **स्वोपज्ञवृत्ति**, १.२.३

31. तथा चार्थाजन्यत्वान्न प्रमाण्यमस्या इति चेत्, तत् किं प्रमाणान्तरेऽप्यर्थजन्यत्वमविसंवादहेतुरिति विप्रलब्धोऽसि ?... योगिज्ञानस्यातीतानागतार्थगोचरस्य तदजन्यस्यापि प्रामाण्यं प्रति विप्रतिपत्तेरभावात्। वही, **स्वोपज्ञवृत्ति**, १.२.३
32. दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्। वही, १.२.३

33-36. वही, **स्वोपज्ञवृत्ति**, १.२.४

37. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः। वही, १.२.५

38-41. वही, **स्वोपज्ञवृत्ति**, १.२.५

42. **भगवतीसूत्र**, ५.३ १९१-९२.
43. **अनुयोगद्वारसूत्र**, १४४
44. वही, १४४
45. अहवा हेऊ चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा-अत्थित्तं अत्थि सो हेऊ, अत्थित्तं णत्थि सो हेऊ, णत्थित्तं अत्थि सो हेऊ, णत्थित्तं णत्थि सो हेऊ। **स्थानांगसूत्र**
46. **दशवैकालिकनिर्युक्ति**, ८९-९९, १३७, ४९.
47. साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानम्। **प्रमाणमीमांसा**, १.२.७
48. व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः। वही, १.२.६
49. *Akalaṅka's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy, p. 255-259*
50. तद् द्विधा स्वार्थं परार्थं च। **प्रमाणमीमांसा**, १.२.८
51. *Akalaṅka's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy, p. 267-270.*
52. वही., पृ. २७३-२७६
53. वही., पृ. २७०-२७३
54. वही., पृ. २८१-२८३

तृतीय व्याख्यान

केवलज्ञान

केवलज्ञान के स्वरूप की स्थिर हुई जैन मान्यता

एकत्ववितर्काविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान के बल से मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् साधक वीतरागी बनता है, बाद में शीघ्र ही ज्ञानावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय होता है और फलत: केवलज्ञान का आविर्भाव होता है।[1] केवलज्ञान अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान है क्योंकि वह इन्द्रिय और मन के माध्यम से जानता नहीं है किन्तु साक्षात् जानता है। आत्मा इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना साक्षात् जानती है।[2] अत: केवलज्ञान में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन क्रमिक अवस्थाओं का स्थान नहीं है।[3] वह सभी द्रव्य और उनके सभी पर्याय को जानता हैं।[4] वह सभी द्रव्यों की सभी व्यक्तियों को और उनकी त्रिकालवर्ती सर्व अवस्थाओं को जानता है। सभी द्रव्यों की सभी व्यक्ति अनन्त हैं और उन प्रत्येक की अवस्थाएँ भी अनन्त हैं। अनन्त ज्ञेयों का क्रमश: ग्रहण तो नहीं हो सकता। अत: केवलज्ञान अनन्त ज्ञेयों को युगपत् जानता है।[5] जिसे केवलज्ञान प्राप्त होता है उस आत्मा के सर्व प्रदेश सर्वाक्षगुणों से समृद्ध बन जाते हैं।[6] अर्थात्, एक एक इन्द्रिय एक एक गुण को जानती है, जैसे आँख रूप को ही, नाक गन्ध को ही इत्यादि, जब कि केवलज्ञानी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश रूप आदि सभी विषय को जानता है। इस प्रकार केवलज्ञान सर्वज्ञत्व है।

सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिए दिये गये प्रमुख तर्क

केवलज्ञान का सर्वज्ञत्व के साथ अभेद करने के बाद जैन तार्किक सर्वज्ञत्व की सिद्धि के हेतु मुख्य तर्क इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं - (१) जो वस्तु सातिशय होती है अर्थात् तरतमभावापन्न होती है वह क्रमश: वृद्धिमान होकर कहीं न कहीं पूर्णता को प्राप्त करती है, जैसे परिमाण। परिमाण छोटा भी है और तरतमभाव से बड़ा भी है। अत: वह आकाश में पूर्णता को प्राप्त करता हुआ दिखाई देता है। यही दशा ज्ञान की भी है। ज्ञान कहीं अल्प है तो कहीं अधिक है - इस प्रकार तरतमभाववाला दिखाई देता है। अत: वह कहीं न कहीं सम्पूर्ण भी होना चाहिए। जिस में वह पूर्णकलाप्राप्त होगा, वही सर्वज्ञ। हेमचन्द्राचार्यने प्रमाणमीमांसा में यह युक्ति दी है।[7] (२) जो अनुमेय होता है वह किसी को तो प्रत्यक्ष होगा ही। सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती - कालिक और दैशिक दृष्टि से - पदार्थ किसी को प्रत्यक्ष होते ही हैं क्योंकि वे पदार्थ अनुमेय हैं।[8] (३)

सूर्यग्रहण आदि के ज्योतिर्ज्ञान के उपदेश की यथार्थता और अविसंवादिता सर्वज्ञत्व सिद्ध करती है।[9] (४) सर्वज्ञ है क्योंकि बाधक प्रमाणों की असंभवितता का निश्चय है।[10] सर्वज्ञ का बाधक प्रमाण प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्यक्ष के आधार पर जो व्यक्ति कहता है कि कोई देश या कोई काल में कोई सर्वज्ञ नहीं है, वह व्यक्ति स्वयं ही सर्वज्ञ बन जायेगा। प्रत्यक्ष के बल पर सर्व देश और सर्व काल के सर्व पुरुषों का ज्ञान सर्वज्ञ के सिवा अन्य किसी को कैसे हो सकता है ? सर्वज्ञ का बाधक अनुमान भी नहीं है। कतिपय लोग सर्वज्ञ के बाधक अनुमान के रूप में इस प्रकार अनुमान देते हैं - अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वे वक्ता है और पुरुष है, राहदारी सामान्य आदमी के समान। यह अनुमान सर्वज्ञ का बाधक नहीं है क्योंकि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व का कोई विरोध नहीं है। एक ही व्यक्ति वक्ता भी हो सकती है और सर्वज्ञ भी हो सकती है। यदि ज्ञान की वृद्धि के साथ वचनों का ह्रास दिखाई देता होता तो ज्ञान की उत्कृष्टता में वचनों का अत्यन्त ह्रास होता, परन्तु वास्तव में तो ज्ञान की वृद्धि के साथ वचन की भी प्रकर्षता दिखाई देती है। सर्वज्ञता का पुरुष के साथ भी कोई विरोध नहीं है, परन्तु सर्वज्ञत्व का राग के साथ विरोध है। अतः जिस पुरुष में राग होता है वहाँ सर्वज्ञत्व नहीं होता। सर्वज्ञत्व का वीतरागता के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः जो पुरुष वीतराग होगा वह सर्वज्ञ होगा ही। इस प्रकार प्रस्तुत अनुमान सर्वज्ञ का बाधक वहीं है। आगम भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है। जैन आगम सर्वज्ञ का समर्थन करते हैं। (५) वर्तमान में प्रायः सभी पुरुष रागी दिखाई देते हैं, कोई वीतरागी दिखाई नहीं देता, तो अतीत या भविष्य में कोई पूर्ण वीतरागी की सम्भावना कैसे हो सकती है ? और वीतरागी सम्भवित नहीं हो तो सर्वज्ञ कहाँ से सम्भवित होगा ? इनका उत्तर यह है कि आत्मा अनन्तज्ञानस्वरूप है। रागादि आत्मा का स्वरूप नहीं है। अतः योगसाधना और मैत्री आदि भावना से उनका उच्छेद सम्भवित है और फलतः आत्मा के अनन्तज्ञान का पूर्ण प्राकट्य सम्भवित है। अतः सर्वज्ञ सम्भवित है।[11]

सर्वज्ञत्व सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों का खोखलापन

सर्वज्ञत्व सिद्ध करने के हेतु दिये गये तर्क नितान्त खोखले हैं, यथा-(१) जीव में ज्ञान की तरतमता दिखाई देती है अतः जीव में ज्ञान परमोत्कृष्ट कोटि को प्राप्त करता है, ऐसा कहा गया है। जीव में ज्ञान की तरतमता के आधार पर से जीव में ज्ञान परमोत्कृष्ट कोटि को प्राप्त करता है, ऐसा जैन सिद्ध करना चाहते हैं। अतः जहाँ गुण की तरतमता हो वहीं वह गुण परमोत्कृष्ट कोटि को प्राप्त करता है, यह दिखाना चाहिए। किन्तु यह बताने कि लिए परिमाण का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह स्वयं

ही विपरीत सिद्ध करता है। जो द्रव्य या जो जाति के पदार्थ में परिमाण का तरतमभाव हमें दिखाई देता है वह द्रव्य या वह जाति का पदार्थ कभी भी परमहत्परिमाण को प्राप्त होता ही नहीं है। आँवला में तरतम परिमाण होता है लेकिन कोई भी आँवला परममहत्परिमाण प्राप्त नहीं करता। पौद्‌गलिक पदार्थ में तरतम परिमाण होता है, लेकिन कोई भी पौद्‌गलिक पदार्थ परममहत्परिमाण किसी भी काल में प्राप्त करता ही नहीं है। जैन मतानुसार आत्मा संकोचविकासशील होने से उसमें भी तरतम परिमाण है लेकिन किसी भी आत्मा को परममहत्परिमाण प्राप्त नहीं है। आकाश में परममहत्परिमाण है परन्तु वहाँ आकाश में पूर्व कभी भी परिमाण में तरतमभाव था ही नहीं, आकाश का परममहत्परिमाण तो अनादि है। इस प्रकार जहाँ परिमाण का तरतमभाव है वहाँ वह परिमाण कभी परममहत्परिमाण बनता ही नहीं है। अत: आत्मा में ज्ञान का तरतमभाव होने से ज्ञान आत्मा में अपनी परमोत्कृष्ट कोटि प्राप्त नहीं कर सकता, ऐसा फलित होता है। इस प्रकार आत्मा में सर्वज्ञत्व की सिद्धि करने दिया हुआ अनुमान विपरीत सिद्ध करता हुआ प्रतीत होता है। दूसरा, ज्ञान अल्पविषयग्राही, बहुविषयग्राही दिखाई देता है अत: वह सर्वविषयग्राही भी संभवित होता है और सर्वविषयग्राही ज्ञान ही अनंतज्ञान है ऐसा जैन मानते हैं, तो जैन ऊपर यह स्वीकार करने की आपत्ति आती है कि अल्पविषयसुख, बहुविषयसुख दिखाई देता है अत: सर्वविषयसुख संभवित होता ही है और सर्वविषयसुख ही अनंतसुख है। किन्तु जैन ऐसा तो नहीं मानते। इसके विपरीत उनके मतानुसार निर्विषयसुख ही अनंतसुख है। इन सब से प्रतीत होता है कि सर्वज्ञत्व को सिद्ध करने के लिए दिया गया यह प्रथम तर्क ग्राह्य नहीं है। (२) जो अनुमेय होता हो वह प्रत्यक्ष होना ही चाहिए यह स्वीकार्य हो तो जो अनुमेय होता है वह किसी को तो प्रत्यक्ष होना ही चाहिए यह बात शायद स्वीकार्य बने, परन्तु जो जो अनुमेय होता हो वह प्रत्यक्ष होना ही चाहिए यही स्वीकार्य नहीं है। परमाणु को हम देख नहीं सकते, लेकिन उसका अनुमान कर सकते हैं, तर्क से उसकी स्थापना हो सकती है, यह तो सर्वसम्मत है। अत: दूसरा तर्क भी सर्वज्ञत्व को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। (३) भविष्य में कब चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण होगा, उसका उपदेश सर्वज्ञत्व को सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि यह तो शुद्ध गाणितिक आधार पर असर्वज्ञ भी बता सकता है। अहमदाबाद से मुंबई का अन्तर ज्ञात हो और रेलगाड़ी की गति का ज्ञान हो तो अहमदाबाद से अभी छूटी हुई रेलगाड़ी कब मुंबई पहुँचेगी यह कोई भी व्यक्ति गिनती करके बता सकता है। उसी प्रकार जिसे चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी आदि की गति का ज्ञान हो वह खगोलशास्त्री सरलता से गिनती द्वारा कह

सकता है कि भविष्य में कब चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण या खगोलीय घटना घटित होगी। अतः यह तर्क भी सर्वज्ञत्व को सिद्ध नहीं कर सकता। (४) सभी जीव असर्वज्ञ है, इस व्याप्ति को ग्रहण करने के लिए त्रैकालिक और सर्वदेशस्थ सभी जीवों का और उनकी असर्वज्ञता का प्रत्यक्ष ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। जैन धूम और अग्नि की व्याप्ति के ग्रहण के लिए त्रैकालिक और सर्वदेशस्थ सर्व धूमों और सर्व अग्नियों के प्रत्यक्ष को आवश्यक नहीं मानते। सर्व सत् वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है, यह व्याप्ति जैनों को स्वीकार्य है। क्या इस व्याप्ति के ग्रहण हेतु त्रैकालिक और सर्वदेशस्थ सत् वस्तुएँ और उनकी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तता का प्रत्यक्ष जैन आवश्यक मानते हैं ? नहीं, जैन मतानुसार व्याप्तिग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं, अपितु तर्क से होता है। अतः सर्वज्ञ की सिद्धि के लिए दिया गया चौथा तर्क भी ग्राह्य नहीं है। (५) राग आगन्तुक मल होने से उसका उच्छेद सर्वस्वीकृत है। परन्तु इससे इतना ही कह सकते हैं कि वीतरागी का ज्ञान रागरहित पूर्णतः शुद्ध होता है, नहीं कि सर्वविषय को जाननेवाला। जो वीतराग होता है वह सर्वज्ञ होता ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पातंजल योगदर्शन वीतराग में सर्वज्ञत्व अनिवार्य नहीं मानता।

'केवलज्ञान' पद का अर्थ

'केवलज्ञान' शब्द का अर्थ - 'केवलज्ञान' शब्दगत 'केवल' पद का एक अर्थ 'विशुद्ध' होता है। अतः 'केवलज्ञान' शब्द का अर्थ 'विशुद्ध ज्ञान' इतना ही होगा। विशुद्ध ज्ञान अर्थात् रागमल से अक्लिष्ट ज्ञान। केवलज्ञान वीतराग का ज्ञान है, इस सत्य के साथ इसकी उचित संगति है और योगदर्शन में पतंजलि ने जिन अक्लिष्ट चित्तवृत्तिओं (ज्ञानों) की बात की है[12] वे अक्लिष्ट चित्तवृत्ति और केवलज्ञान दोनों एक ही परिस्थिति को सूचित करते हैं। अक्लिष्ट चित्तवृत्ति और केवलज्ञान दोनों को अभिन्न मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यहाँ बाह्य विषयों के ज्ञानों का प्रतिषेध नहीं हैं, परन्तु वे ज्ञान विषयराग से, किसी भी प्रकार के राग से सर्वथा मुक्त है। सामान्य जन रागयुक्त होने से जब भी उनको किसी भी विषय का ज्ञान होता है तब उस ज्ञान के साथ ही राग-द्वेष का भाव अवश्य उदित होता है। इसके विपरीत, वीतरागी के बारे में उनको जब कोई भी विषय का ज्ञान होता है तब उस विषय के प्रति राग-द्वेष का कोई भाव उदित नहीं होता। इस प्रकार वीतरागी का ज्ञान रागरहित विशुद्ध है और वह केवलज्ञान है। कतिपय चिन्तकों ने सोचा कि विशुद्ध ज्ञान का रागरहित होना पर्याप्त नहीं है, अपितु उसका विषयाकारशून्य होना भी आवश्यक है। अतः उनके अनुसार केवलज्ञान का अर्थ है रागरहित एवं साथ साथ विषयाकाररहित

पूर्णत: विशुद्ध ज्ञान। इस प्रकार केवलज्ञान यह विज्ञानवादी बौद्धों के ग्राह्यग्राहकाकार विनिर्मुक्त विशुद्ध विज्ञान जैसा होगा। वह रागमुक्त तो है ही किन्तु कोई भी विषयाकार से भी मुक्त है। यही बात को श्रीमद् राजचन्द्र और अन्य जैन चिन्तकों ने अन्य शब्दों में प्रस्तुत किया है। केवल आत्मा का ज्ञान ही केवलज्ञान।[13] आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'नियमसार' के शुद्धोपयोगधिकार (गाथा १५८) में लिखा है - 'केवली भगवान समस्त पदार्थों को जानते हैं' यह कथन व्यवहारनय से है परन्तु निश्चयनय से वे अपने आत्मस्वरूप को जानते हैं। अत: फलित होता है कि केवली की परपदार्थज्ञता व्यावहारिक है, नैश्चयिक नहीं है, पारमार्थिक नहीं है। इस सन्दर्भ में यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि कुन्दकुन्द व्यवहारनय को अभूतार्थ (असत्य) और निश्चयनय को भूतार्थ (सत्य) मानते हैं।[14] परिणामतः सर्वज्ञता का पर्यवसान आत्मज्ञता में ही हो जाता है। और इस प्रकार, उपनिषद के **''आत्मनो (= एकस्य) विज्ञानेन सर्वं विदितं भवति''** वाक्य के आशय के निकटतम कुन्दकुन्द का विचार पहुँच जाता है। उपनिषद का यह सर्वज्ञत्व और कुछ नहीं लेकिन मात्र आत्मज्ञत्व ही है। 'आत्मा ही सब कुछ है, सर्व का सारभूत है, जिसने इसे जान लिया उसने सब जान लिया, अर्थात् जिसने आत्मा को जाना उसे अन्य जानने का कुछ प्रयोजन नहीं है' यह भाव है। अतः वास्तव में केवलज्ञान यह सर्वज्ञत्व नहीं है। सर्वज्ञत्व का उस पर आरोप किया गया है। 'केवलज्ञान' शब्द स्वयं सर्वज्ञत्व का अर्थ नहीं देता।

केवलज्ञान पर सर्वज्ञत्व का आरोप क्यों ?

उस काल में सर्वज्ञत्व की प्रतिष्ठा अनेक धर्मसम्प्रदायों में, दार्शनिक विचारधाराओं में एवं सामान्य जनों में दृढीभूत हुई होगी। अर्थात् मूलत: सर्वज्ञत्व को अस्वीकार्य माननेवाले को भी उससे प्रभावित होकर सर्वज्ञत्व को स्वीकार करने का दबाव महसूस हुआ हो, यह स्वाभाविक है। अब हम विभिन्न धर्मपरम्पराओं में सर्वज्ञत्व की विभावना पर विचार करेंगे।

बौद्ध परम्परा में सर्वप्रथम बुद्ध का दावा मात्र तीन विद्याओं का ही है - (१) पूर्वजन्मों की घटनाओं को पूर्ण रूपेण जानने की विद्या, (२) दिव्य चक्षु द्वारा प्राणी को उत्पन्न होते हुए, मरते हुए एवं स्वर्गलोक में जाते हुए देखने की विद्या तथा (३) आस्रवों(दोषों)के क्षय से चित्त एवं प्रज्ञा की विमुक्ति का साक्षात्कार[15]। यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि भविष्यत्विषयक ज्ञान का कोई भी निर्देश नहीं है। बुद्ध स्वयं सर्वज्ञ होने का दावा नहीं करते, इसके विपरीत वे सर्वज्ञता को असम्भव समझते हो ऐसा प्रतीत होता है।[16] कालान्तर में उपर्युक्त तीन विद्याओं में अन्य सात विद्याओं का

समावेश करके कुलमिलाकर दस विद्याओं के धारक बुद्ध को माना गया। इन दस विद्याओं को दसबल कहा जाता है। समाविष्ट सात विद्याएँ इस प्रकार है - (१) उचित को उचित रूप में और अनुचित को अनुचित रूप में जाननेवाला ज्ञानबल (२) कर्मों के फल जाननेवाला ज्ञानबल (३) साधनामार्ग किस ओर ले जाते हैं यह जाननेवाला ज्ञानबल (४) लोक के विविध और अनेक घटक तत्त्वों को जाननेवाला ज्ञानबल (५) जीवों के अभिप्रायों को जाननेवाला ज्ञानबल (६) जीवों की शक्तियाँ मन्द हैं या तीव्र हैं, इत्यादि जाननेवाला ज्ञानबल (७) ध्यान, विमुक्ति, समाधि और समापत्ति इन चार की शुद्धि, अशुद्धि और वृद्धि को जाननेवाला ज्ञानबल। इन दस बल की सूची पर से फलित होता है कि अभी भी बुद्ध के सर्वज्ञ होने की मान्यता उपस्थित नहीं हुई है।[17] लेकिन बाद में अल्प समय में ही बुद्ध के सर्वज्ञ होने का स्वीकार प्रतीत होता है। मज्झिमनिकाय के कण्णत्थलसुत्त में बुद्ध के मुख में निम्न दो विधान रखे हैं : (१) **नत्थि सो समणो वा ब्राह्मणो वा यो सकिदेव सब्बं अस्सति सब्बं दक्खिति... न तं ठाणं विज्जति।** ("ऐसा कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है, जो युगपत् सर्व को जानता हो, देखता हो;... यह असम्भव है") (२) **येते एवमाहंसु... समणो गोतमो एवमाह नत्थि सो समणो वा ब्राह्मणो वा यो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाणं दस्सनं पटिजानिस्सति, न तं ठानं विज्जती ति न मे ते वुत्तवादिनो अब्भाचिक्खन्ति च पन मं ते असता अभूतेनाति।** (" 'ऐसा कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो तथा अनन्त ज्ञान एवं दर्शन प्राप्त हो, क्योंकि यह असम्भव है एसा श्रमण गौतम ने कहा है' - एसा जो मेरे विषय में कहता है वह सत्य नहीं कहता है और जो असत्य और जूठा है उसका मुझ पर आरोप करके मुझे कलंकित करता है।") इन दो विधानों से यह स्पष्ट होता है कि युगपत् सर्व के ज्ञान का और युगपत् सर्व के दर्शन का बुद्ध स्वीकार नहीं करते, फिर भी किसी अन्य अर्थ में सर्व का ज्ञान और सर्व का दर्शन स्वीकार करते हैं। निश्चित किस अर्थ में सर्व का ज्ञान और सर्व का दर्शन बुद्ध स्वीकार करते हैं यह इन दो विधानों पर से अनुमान करना कठिन नहीं है। दो विधानों को दृष्टि में रखकर हम कह सकते हैं कि सर्व का ज्ञान और सर्व का दर्शन स्वीकार करने में अब दो ही विकल्प शेष रहते हैं : (१) क्रम से सर्व का ज्ञान करना और क्रम से सर्व का दर्शन करना; (२) जो कुछ जानना-देखना हो उसे योग्य ध्यान करके जानना-देखना। प्रथम विकल्प अस्वीकार्य है क्योंकि ज्ञेय अनन्त होने से सर्व ज्ञेयों को क्रम से जानना असम्भव है। अत: स्वाभाविकरूप से फलित होता है कि बुद्ध सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व का इस अर्थ में स्वीकार करते हैं

कि जिस वस्तु को जानना-देखना हो उसे उपयुक्त ध्यान लगाकर जानना-देखना। इसका तात्पर्य यह कि आध्यात्मिक साधना से इस अर्थ में सर्व को जानने और देखने की शक्ति (लब्धि, सिद्धि) साधक प्राप्त करता है। परन्तु वह कभी सर्व को युगपत् जानता-देखता नहीं है। वह वही वस्तु को जानता-देखता है जिसे वह उस समय जानना देखना चाहता हो और वह भी योग्य ध्यान लगाने के पश्चात् ही वह उस वस्तु को जानता देखता है। इस अर्थघटन को उत्तरकालीन बौद्ध ग्रन्थों में भी समर्थन मिलता है। 'मिलिन्दप्रश्न' में नागसेन कहता है : **भगवा सब्बञ्ञू, न च भगवतो सततं समितं ञाणं दस्सनं पच्चुपट्ठितं, आवज्जनपटिबद्धं भगवतो सब्बञ्ञुतञाणं, आवज्जित्वा यदिच्छति जानातीति**। (संपा. वाडेकर, मुंबई, १९४०, पृ. १०५) यहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भगवान बुद्ध सर्वज्ञ हैं, परन्तु वे सर्व वस्तुओं को सतत जानते नहीं है, किन्तु जिसे जानना चाहते हैं उसे ध्यान लगाकर जानते हैं। अपने 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थ में शान्तरक्षित लिखते हैं :

यद् यदिच्छति बोद्धुं वा तत् तद्वेत्ति नियोगतः ।
शक्तिरेवंविधा ह्यस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ ॥ श्लोक ३६२६

(बुद्ध को जो जो वस्तु जानने की इच्छा होती है वह वह वस्तु को वे अवश्य जानते हैं, ऐसी उनमें शक्ति है क्योंकि उनके आवरण नष्ट हो चुके हैं।) परन्तु समकाल या कुछ पश्चात् महासांघिक बौद्धोंने तो युगपद् सर्व को जानने के अर्थ में सर्वज्ञत्व का स्वीकार किया।[18] इस प्रकार जो जानना हो उसे ही जानने के अर्थ में स्थविरवाद में सर्वज्ञत्व का स्वीकार हुआ था, उस अर्थ को परिवर्तित कर के एक साथ सर्व वस्तुओं के ज्ञान के अर्थ में सर्वज्ञत्व का महासांघिकों ने स्वीकार किया।

सांख्य परम्परा और उसके समानतन्त्र योग की परम्परा अति प्राचीन है। यह हकीकत है कि बुद्ध सांख्याचार्य आलार कालाम के और योगाचार्य रुद्रक रामपुत्र के कुछेक समय तक शिष्य रहे थे। परन्तु सांख्य और योग के व्यवस्थित लिखित प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। सांख्य का व्यवस्थित निरूपण करनेवाला सब से प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ ईश्वरकृष्णकृत 'सांख्यकारिका' करीब ई.स. की प्रथम शताब्दी का है, जब कि योग का व्यवस्थित निरूपण करनेवाला सब से प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ ई.स. पूर्व द्वितीय शताब्दी का है, और वह है पतंजलि विरचित 'योगसूत्र' नामक ग्रन्थ। तथापि सांख्य-योग परम्परा अति प्राचीन है। हम इन प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर उस परम्परा में सर्वज्ञत्व की विभावना का निरूपण करेंगे। सांख्य-योग की प्राचीन परम्परा अनुसार विवेकख्याति (विवेकज्ञान) पूर्ण होने पर अर्थात् पूर्णतः सिद्ध होने पर

साधक को धर्ममेघसमाधि का लाभ होता है।[19] इसी कारण योगी धर्ममेघसमाधि को विवेकख्याति की ही पराकाष्ठा समझते हैं।[20] धर्ममेघसमाधि क्लेशों एवं कर्मों का समूल नाश करती है, परिणामतः साधक जीवन्मुक्त बनता है, अब उसका पुनर्जन्म सम्भवित नहीं है। उसने जन्म के कारणों का नाश किया है।[21] ऐसे जीवन्मुक्त को विवेकज्ञानजन्य तारकज्ञान नाम की सिद्धि प्राप्त होती है। यह तारकज्ञान ही सर्व को जाननेवाला ज्ञान (सर्वज्ञज्ञान) है। तारकज्ञान ही सर्व विषयों को और उनकी अतीत, अनागत, वर्तमान सभी अवस्थाओं को अक्रम से एक क्षण में जान लेता है।[22] तारकज्ञानरूप सिद्धि जिस विवेकी जीवन्मुक्त को प्राप्त हुई है वह, यदि क्षण और क्षणक्रम पर संयम (= धारणा, ध्यान और समाधि) करे तो, युगपत् एक ही क्षण में सर्व ज्ञयों को जानता है।[23] इस प्रकार सर्व को जानने के लिए प्रमुखतः दो शर्तों का पालन आवश्यक हैं - (१) दृढ विवेकज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिसके फलस्वरूप सर्व को जानने की सिद्धि, लब्धि, शक्ति प्राप्त होती है। (२) क्षण और क्षणक्रम पर संयम करना चाहिए। इस प्रकार प्राचीन सांख्य-योग चिन्तकों ने युगपत् सर्व का ज्ञान स्वीकार करने पर भी सतत अनन्त काल तक उसे प्रवर्तमान रहता है एसा नहीं माना है। किन्तु ईसा की तृतीय-चतुर्थ शताब्दी में योगभाष्यकार व्यासने नित्यमुक्त[24] एक ईश्वर का ख्याल पातंजल योग परम्परा में दाखिल करके युगपत् सर्व का ज्ञान हंमेशां ईश्वर में प्रवर्तमान रहता स्वीकार किया है[25]। उन्हें क्षण और क्षणक्रम पर संयम करने की आवश्यकता नहीं है। उनका सर्वज्ञत्व अनादि-अनन्त है, नित्य है। योगभाष्यकार पूर्व नित्यमुक्त एक ईश्वर का ख्याल योगदर्शन में भी नहीं था। 'ईश्वर' पद का प्रयोग तारकज्ञान (सर्वज्ञत्व) की सिद्धि प्राप्त जीवन्मुक्त में होता था और इस अर्थ में ईश्वर अनेक थे और अनित्य (पूर्व बद्ध) थे। सर्व जीवन्मुक्तों को इस तारकज्ञान की सिद्धि नहीं होती। अतः स्वयं भाष्यकार कहते हैं कि जीवन्मुक्त ईश्वर (तारकज्ञानसिद्धिरूप ऐश्वर्ययुक्त) हो या न हो, वह देहविलय के पश्चात् विदेहमुक्त होता ही है[26]। जीवन्मुक्त को विदेहमुक्त होने से पूर्व सर्वज्ञ बनना आवश्यक नहीं माना गया है। यह एक ध्यान देने योग्य बात है। सांख्य-योग अनुसार चित्त ही ज्ञाता है। चित्त की विषयाकार में परिणति ही ज्ञान है। चित्त के इस विषयाकार परिणाम को चित्तवृत्ति कहते हैं। अर्थात् चित्तवृत्ति ही ज्ञान है। अतः तारकज्ञान या सर्वज्ञज्ञान का अर्थ होगा युगपत् एक ही क्षण में चित्त की सर्व ज्ञेयों के आकार में परिणति। चित्त एक साथ अनन्त विषयों के आकार में कैसे परिणत हो सकता है और यह परिणाम कैसा होगा इसकी कल्पना करना भी कठिन है। परन्तु सांख्य-योग ने ऐसा माना है। जब जीवन्मुक्त विदेहमुक्त बनता

है तब उसका चित्त अपनी मूल कारणभूत प्रकृति में विलीन हो जाता है, चित्त के अभाव में चित्तवृत्ति अर्थात् ज्ञान का अभाव हो जाता है, अतः विदेहमुक्त को ज्ञान होता ही नहीं। पुरुष (आत्मा) साक्षात् चित्तवृत्ति का दर्शन करता है और घटपटादि विषयों का दर्शन चित्तवृत्ति द्वारा करता है। अतः मोक्ष में पुरुष को दर्शन भी नहीं है, मात्र दर्शनशक्ति है।

न्याय-वैशेषिक परम्परा भी प्राचीन है। गौतम के उपलब्ध न्यायसूत्र में ई.स. पू. ३०० से ई.स. ४०० तक के स्तर दिखाई देते हैं। वात्स्यायन कृत न्यायभाष्य ई.स. पाँचवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की कृति प्रतीत होती है। गौतम और वात्स्यायन दोनों 'ईश्वर' पद से जीवन्मुक्त समझते हैं। ईश्वर अधर्म, मिथ्याज्ञान और प्रमाद का नाश कर के धर्म, ज्ञान और समाधिरूप सम्पत्ति प्राप्त करता है।[27] वह परम उपदेष्टा है। वात्स्यायन जीवन्मुक्त को विहरन्मुक्त कहते हैं।[28] वे उनको सर्वज्ञ के रूप में स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। जीवन्मुक्त योगी ऋद्धिबल से अनेक योगज सेन्द्रिय शरीर निर्माण कर के और मुक्तात्माओं द्वारा त्यक्त अणु मनों को ग्रहण करके सर्व ज्ञेयों को युगपद् जानता है ऐसा स्वीकार करते हुए वात्स्यायन प्रतीत होते हैं।[29] उन्होंने 'ज्ञेय' पद के पूर्व 'सर्व' विशेषण रक्खा नहीं है किन्तु उनको वह अभिप्रेत हो एसा लगता है। न्याय-वैशेषिक मतानुसार ज्ञान आत्मा का विशेष गुण होने पर भी वह उसका स्वभाव नहीं है। शरीरावच्छिन्न आत्ममनः सन्निकर्षरूप निमित्तकारण से उत्पन्न हो कर ज्ञान कूटस्थनित्य आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है, मात्र इतना ही। मोक्ष में आत्मा को शरीर नहीं है और मन भी नहीं है, अतः निमित्तकारण के अभाव में ज्ञान ही नहीं है, तो फिर सर्वज्ञत्व तो कहाँ से होगा ? ई.स. छट्ठी शताब्दी में प्रशस्तपादने शैव-पाशुपत सम्प्रदाय के नित्यमुक्त महेश्वर को न्याय-वैशेषिक परम्परा में दाखिल किया और उसके साथ नित्य सर्वज्ञ ईश्वर जो जगतकर्ता है - का स्वीकार उत्तरकालीन सर्व न्याय-वैशेषिक चिन्तकों ने किया है, इतना ही नहीं उसकी प्रबल स्थापना भी की है।

वर्तमान में विलुप्त आजीविक परम्परा में भी सर्वज्ञत्व की स्वीकृति दिखाई देती है। जैन आगम भगवतीसूत्र के निर्देश अनुसार जब गोशालक को उनका शिष्य अयंपुल मिलता है तब वह गोशालक का सर्वज्ञ के रूप में उल्लेख करता है।[30] जैन परम्परा का आजीविक परम्परा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन सब से निर्देश मिलता है कि भगवान महावीर के समय से सर्वज्ञत्व में श्रद्धा और सर्वज्ञत्व की प्रतिष्ठा में वृद्धि होती रही है। ऐसी परिस्थिति में जैन परम्परा सर्वज्ञत्व का स्वीकार किए बिना कैसे रह सकती

है ? उसके पास उत्कृष्ट केवलज्ञान तो था ही। उसने उसी पर सर्वज्ञत्व का आरोप कर दिया। इस प्रकार केवलज्ञान स्वयं ही सर्वज्ञत्व में परिवर्तित हो गया।

वीतरागता और धर्मज्ञता के विरुद्ध सर्वज्ञत्व की हानिकार प्रतिष्ठा का प्रतिकार

पातंजल योग में योगभाष्यकार ने स्पष्टत: स्वीकार किया कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए वीतराग बनना ही आवश्यक है, सर्वज्ञ बनना आवश्यक नहीं है। वीतराग बने बिना मोक्ष नहीं मिलता, जब कि सर्वज्ञ बने बिना मोक्ष मिलता है। कतिपय जैन चिन्तकोंने बलपूर्वक प्रतिपादन किया कि मात्र आत्मा का ज्ञान ही केवलज्ञान है। उन्होंने सर्वज्ञ का अर्थ ही आत्मज्ञ किया। उन्होंने ऐसा भी कहा कि भगवान का सर्वज्ञत्व तो व्यवहार है जबकि उनका आत्मज्ञत्व ही परमार्थ है।

भारतीय धर्म-दर्शन की परम्पराओं में मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है। अत: यह जानना आवश्यक है कि मोक्षप्राप्ति के लिए कौन से क्रम से साधना करनी चाहिए यह कोई साक्षात् अनुभव से जानता है ? अन्य शब्दों में क्या कोई धर्म को साक्षात् जानता है ? मुमुक्षुओं के लिए यह प्रश्न विचारणीय है। मीमांसको का यह मत है कि कोई मनुष्य कभी भी धर्म का साक्षात्कार नहीं कर सकता, धर्म तो वेद द्वारा ही जाना जा सकता है, वेद अपौरुषेय है, धर्म के विषय में वेद का निर्बाध और अन्तिम अधिकार है। मीमांसक ने सर्वज्ञत्व का निषेध भी इसी कारण किया है। कोई मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि किसी भी मनुष्य को धर्म का प्रत्यक्ष (साक्षात् अनुभवात्मक ज्ञान) सम्भव नहीं है। अत: कुमारिल कहते हैं -

धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रापि युज्यते ।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ।।

- तत्त्वसंग्रह 'पूर्वपक्ष' पृ. ८४४

वैदिक परम्परा में अन्य दार्शनिक चिन्तकोंने ईश्वर में नित्य सर्वज्ञता और अन्य योगीओं में योगज सर्वज्ञता मानकर भी वेदों को ईश्वरप्रतिपादित या ईश्वरनि:श्वसित कह कर धर्म में वेद का ही अंतिम अधिकार स्वीकार किया। इसके विपरीत, श्रमण परम्परा ने वीतरागी और तत्त्वज्ञानी मनुष्य का धर्म के विषय में प्रामाण्य स्वीकृत किया। मनुष्य स्वयं साधना करके पूर्ण वीतरागी और शुद्धज्ञानी बन सकता है और मोक्ष तथा मोक्षोपायों का साक्षात्कार कर सकता है। उसे मोक्ष मार्ग का प्रत्यक्ष अनुभव है। वह स्वयं साक्षात् अनुभूत मोक्षमार्ग का, मोक्षोपायों का, अर्थात् धर्म का उपदेश देता है। धर्म का उपदेश देने में वही अधिकारी है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने लिखा है कि बुद्ध

चतुरार्यसत्य का साक्षात्कार करते हैं और उसी लिए वे करुणा से प्रेरित होकर कषायसंतप्त संसारीओं के उद्धार के हेतु स्वानुभूत मार्ग का उपदेश देते हैं।[31] वे जगत की अन्य सभी वस्तुओं को जानते हैं या नहीं, इस निरर्थक बात का हमें कोई प्रयोजन नहीं है। हमें तो यही देखना चाहिए कि उन्होंने इष्ट तत्त्व का अर्थात् धर्म का, मार्ग का साक्षात्कार किया है या नहीं ? वे साक्षात् धर्मज्ञ हैं या नहीं ? मोक्षमार्ग में अनुपयोगी चींटीमकोडे की संख्या के ज्ञान का धर्म के साथ क्या सम्बन्ध ?[32] प्रतिष्ठित सर्वज्ञत्व का सर्वथा निषेध करना कठिन होने से धर्मकीर्ति सिद्धान्ततः उसका विरोध नहीं करते तथापि उसको निरर्थक तो अवश्य कह देते हैं। वे कुमारिल को कहते हैं कि भले कोई मनुष्य सर्वज्ञ न बने, लेकिन उसे धर्मज्ञ तो बनना चाहिए। वे सर्वज्ञता के समर्थकों को कहते हैं कि उन्हें मीमांसको के सामने सर्वज्ञता पर बल देकर उसकी स्थापना में पड़ने की बजाय धर्मज्ञता की स्थापना में पडना चाहिए। वास्तविक विवाद तो इस प्रश्न परत्वे है कि मनुष्य को धर्म का साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभवरूप ज्ञान होता है या नहीं ? धर्म के विषय में धर्मज्ञ मनुष्य को प्रमाण मानना चाहिए या अपौरुषेय वेद को ? तात्पर्य यह है कि जहाँ कुमारिल ने प्रत्यक्षानुभवजन्य धर्मज्ञता का निषेध करके धर्म के विषय में अपौरुषेय वेद का ही अव्याहत अधिकार सिद्ध किया वहाँ धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्षानुभवजन्य धर्मज्ञता का समर्थन करके वीतरागी धर्मज्ञ मनुष्य को ही धर्म के विषय में अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकार किया और उसका ही अधिकार माना। धर्मकीर्तिने सर्वज्ञत्व की अनुचित जूठी प्रतिष्ठा को तोड़कर धर्मज्ञत्व की उचित सच्ची प्रतिष्ठा को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण उचित कार्य किया है, उसको सर्व धर्मनेताओं को गम्भीर रूप में ध्यान में रखना चाहिए।

सर्वज्ञत्व और कर्मसिद्धान्त का परस्पर विरोध

जैनोंने केवलज्ञान का सर्वज्ञत्व के साथ अभेद कर के और सर्वज्ञत्व का अर्थ सब द्रव्यों और उनकी भूत, वर्तमान और भावी सभी अवस्थाओं को युगपद् जाननेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान, ऐसा करके पीछले द्वार से आत्यंतिक नियतिवाद का अनजान में स्वीकार कर लिया, जो आत्यंतिक नियतिवाद कर्मसिद्धान्त का बिलकुल विरोधी है। जो कोई इसी वक्त प्रत्येक भावी क्षणों में होनेवाली मेरी मानसिक, वाचिक, कायिक दशाओं को और क्रियाओं को सन्दर्भो सहित सम्पूर्णतः जानता है, मेरे प्रतिक्षण होनेवाले सभी भावी अध्यवसायों को, मनोभावों को जानता है, भावी प्रत्येक क्षण में कहाँ किसके सम्बन्ध में किस प्रकार किन साधनों से मैं क्या करनेवाला हूँ, उन सब को वह जानता है, तो उस से नितान्त यही फलित होता है कि मेरा भावी आत्यंतिक रूप में नियत

(absolutely predetermined and unalterably fixed) है, उसमें किंचित् भी परिवर्तन की संभावना नहीं है और मैं अपने भावी को अपनी इच्छानुसार निर्मित कर सकता हूँ, यह अपनी मान्यता का कारण तो मेरा अपने भावी का अज्ञान ही है, जो जो पसंदगी मैं करता हूँ उस पसंदगी को मुझे करना ही है यह नियत ही था, अज्ञान के कारण मैं मानता हूँ कि वह पसंदगी मैंने स्वतन्त्ररूप से अपनी इच्छानुसार की। सर्वज्ञत्व में से ऐसा आत्यन्तिक नियतिवाद अनिवार्यरूप से फलित होता ही है। कतिपय दिगम्बर पण्डित ऐसा स्वीकार भी करते हैं। पण्डित हुकुमचन्द भारिल का क्रमबद्ध पर्यायवाद आत्यन्तिक नियतिवाद ही है। किन्तु जैन आगमों में तो भगवान महावीर को गोशालक के आत्यन्तिक नियतिवाद का दृढतापूर्वक प्रतिषेध करते हुए वर्णित किया है। सर्वज्ञत्व स्वीकार करने से आत्यन्तिक नियतिवाद अपने आप आता ही है। और आत्यन्तिक नियतिवाद कर्मवाद में स्वीकृत पुरुष प्रयत्न, स्वतन्त्र इच्छाशक्ति, नैतिक उत्तरदायित्व, आत्मसुधारणा और साधना का पूर्णत: विरोधी है एवं परिणामत: कर्मवाद का भी पूर्णरूपेण विरोधी है। जो कर्मसिद्धान्त को बराबर नहीं समझते वे आक्षेप करते हैं कि कर्मसिद्धान्त आत्यन्तिक नियतिवाद की ओर ले जाता है, उसमें स्वतन्त्र इच्छाशक्ति इत्यादि को अवकाश ही नहीं है। पूर्व कर्मों के कारण जीव वर्तमान में जो कुछ है और करता है वह है और करता है, वर्तमान कर्म उसके भावी व्यक्तित्व और क्रियाओं को नियत करेंगे और इस प्रकार चलता ही रहेगा। जीव सम्पूर्णरूपेण पूर्व कर्मों से बद्ध है, इतना ही नहीं उनसे उसका चेतसिक और शारीरिक व्यवहार-उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व-नियत है। इसमें पुरुषस्वातन्त्र्य या स्वतन्त्र इच्छाशक्ति को अवकाश ही कहाँ ? और भी, इसमें मुक्ति की सम्भावना भी कहाँ है ? यह शंका उचित नहीं है। यह कर्मसिद्धान्त की अपूर्ण समझ से उपस्थित हुई है। पूर्व कर्म अनुसार जीव को भिन्न भिन्न शक्तिवाले मन, शरीर और बाह्य साधन प्राप्त होते हैं एवं वह भिन्न भिन्न वातावरण और परिस्थिति में आ पडता है इतना ही, परन्तु प्राप्त साधनों का उपयोग कैसे और कैसा करना तथा वातावरण और परिस्थिति विशेष में कैसा प्रत्याघात देना वह उसके हाथ की बात है, उसमें वह स्वतन्त्र है, ऐसा कर्मसिद्धान्त मानता है। और भी, जीव अपने प्रयत्न से पूर्वकर्मों के प्रभाव को न्यूनतम या नष्ट कर सकता है, ऐसा भी कर्मसिद्धान्त में स्वीकृत है। जीव पर कर्म का नहीं अपि तु कर्म पर जीव का आधिपत्य स्वीकृत है। इस प्रकार कर्मसिद्धान्त आत्यन्तिक नियतिवाद का विरोधी है। अत: उससे ही सर्वज्ञत्व का भी विरोधी है। सर्वज्ञत्व और कर्मसिद्धान्त का सहावस्थान संभवित नहीं है। वे दोनों साथ में नहीं रह सकते। दोनों

में से एक का त्याग करना ही होगा। कोई चिन्तक या दर्शन दोनों का ही स्वीकार नहीं कर सकता। मुझे लगता है कि सर्वज्ञत्व का त्याग करना चाहिए, क्योंकि जैनों ने तो केवलज्ञान पर सर्वज्ञत्व का आरोप किया है और भगवान महावीर ने आत्यन्तिक नियतिवाद का अस्वीकार किया है। कुछेक लोग कहेंगे कि जैन दर्शन भी कार्य की कारणसामग्री में नियति का स्वीकार करता ही है। हा, लेकिन यह नियति आंशिक है। यहाँ नियति का अर्थ है व्यवस्था। विश्व में अंधाधुंधी (chaos) नहीं है, पर व्यवस्था है, जिसे तर्कशास्त्र में Uniformity of Nature कहते हैं। प्रकृति के नियम (Laws of Nature) अनुसार जगत में घटनाएँ घटित होती हैं। इन नियमों में कार्यकारण का नियम प्रमुख है। जिस किसी में से जिस किसी की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु अमुक में से अमुक की ही उत्पत्ति होती है। यह व्यवस्था है, Uniformity है। तथापि जगत की सभी घटनाएँ कहाँ और कब घटित होंगी वह आत्यन्तिक रूपेण नियत नहीं है। सर्वज्ञत्व तो ऐसी आत्यन्तिक नियति स्वीकार किए बिना घटित ही नहीं होता।

ज्ञान का आनन्त्य स्वत: ज्ञेयानन्त्यनिरपेक्ष

जैन सर्वज्ञत्व को अनन्तज्ञान भी मानते हैं और निरावरणज्ञान भी मानते हैं। निरावरण ज्ञान स्वयं स्वत: अनन्त है। उसका आनन्त्य ज्ञेयो (विषयों) के आनन्त्य पर निर्भर नहीं है। और भी, पतंजलि ने अपने योगसूत्र में एक विचारणीय बात कही है। उनके अनुसार सभी ही ज्ञेय विषयों को सम्मिलित करो तो भी निरावरण ज्ञान के आनन्त्य की तुलना में वे अल्प हैं। **तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य आनन्त्यात् ज्ञेयमल्पम्।** (योगसूत्र ४.३१)। तात्पर्य यह कि त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती सर्व ज्ञेयो को सम्मिलित करने से उन सभी ज्ञेयों का जो आनन्त्य होता है वे चाहे जितना भी हो, परन्तु उनका उस आनन्त्य निरावरण शुद्ध ज्ञान के आनन्त्य के आगे तुच्छ है। अत: अनन्त ज्ञेयों को जानने के कारण निरावरण शुद्ध ज्ञान का आनन्त्य जो स्थापित करते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। उपरान्त, यदि अनन्त सुख का आनन्त्य विषयनिरपेक्ष हो तो अनन्त ज्ञान का आनन्त्य विषयनिरपेक्ष क्यों न हो ?

महावीर को सर्वज्ञ मानने से धर्महानि

महावीर सर्वज्ञ थे ऐसा माना गया इसलिए उन के नाम पर खगोल, भूगोल, ज्योतिष आदि की बातें आरोपित की गई। ये बातें ऐसी हैं जो आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के विरुद्ध हैं। महावीर की सर्वज्ञता को चिपकनेवाले लोग विज्ञान की खोजें गलत हैं और महावीर की (महावीर के नाम पर आरोपित) बातें सत्य हैं यह सिद्ध करने

के हेतु हास्यास्पद प्रयत्न करने में जुट गये। वैज्ञानिक खोजों से महावीर की सर्वज्ञता खण्डित होती है, इतना ही नहीं किन्तु महावीर की वीतरागता की साधना का जो सच्चा उपदेश है, उसके प्रति भी संशय और अविश्वास युवा पीढी में उत्पन्न होता है। महावीर को केवलज्ञानी में से सर्वज्ञ बनाकर जैन धर्म की प्रभावना नहीं अपि तु हानि की गई है। महावीर मोक्षमार्ग के, वीतरागमार्ग के सर्वोत्कृष्ट उपदेष्टा थे। खगोल, भूगोल, आदि के उपदेष्टा नहीं ही थे।

निर्मोही का अल्पज्ञेयों का ज्ञान भी पूर्णज्ञान

जैन शास्त्रों में बारबार कहा गया है कि अल्पमोही को कम ज्ञान हो तो भी वह ज्ञानी है, जब कि बहुमोही को सर्व शास्त्रों का ज्ञान हो तो भी वह अज्ञानी है।[33] यह दिखाता कि जैन मतानुसार संख्या की दृष्टि से कितनी वस्तुएँ व्यक्ति जानता है, उसका महत्त्व नहीं है। किन्तु उसकी आन्तरिक शुद्धि कितनी है, उसका महत्त्व है। ऐसा होने से जो निर्मोही है या वीतरागी है उसे संख्या की दृष्टि से अल्प वस्तुओं का ज्ञान हो तो भी वह पूर्ण ज्ञानी है, ऐसा फलित होता है। इस प्रकार हमने पीछे कहा है उसी प्रकार जो ज्ञान अक्लिष्ट है, जो ज्ञान राग से असंस्पृष्ट है, वह ज्ञान पूर्णज्ञान है, ऐसा स्पष्टतः फलित होता है।

अन्य तर्कदोष

जैनों ने सर्वज्ञत्व को सभी द्रव्यों का और उनके सभी पर्यायों का साक्षात्कारात्मक अनुभवात्मक ज्ञान माना है। इस कारण से सर्वज्ञ मानने में कैसी तार्किक आपत्तियाँ आती हैं, इसका विचार करें। हम तो अश्लिल, जुगुप्साप्रेरक, घृणाजनक अदर्शनीय दृश्यों देखने से बचने के लिए आँखें बन्द कर देते हैं, दूर चले जाते हैं, उस ओर जाते ही नहीं हैं। परन्तु सर्वज्ञ को तो ऐसे दृश्य देखने ही पड़ते हैं, इनमें से वे बच नहीं सकते, वे जो सर्वज्ञ ठहरे। हम तो दुर्गन्ध के अनुभव से बचने के लिए नाक बन्द करते हैं या स्थान का त्याग कर देते हैं परन्तु सर्वज्ञ को तो अनन्त प्रकार की, सिर चकरानेवाली दुर्गन्धों का अनुभव करना ही पड़ता है क्योंकि वे सर्वज्ञ बने हैं। इसी प्रकार उन्हें सभी प्रकार के खराब स्पर्शों का, रसों का और शब्दों का भी अनुभव करना ही पडेगा। और भी, वे सर्वज्ञ होने के कारण अन्यों को जिन जिन अनुभव होते हैं उन सर्व अनुभवों का भी साक्षात् अनुभव उन्हें करना ही होगा न ? अन्यथा, वे सर्वज्ञ कैसे कहलाते ? इस प्रकार अन्य के अनुभव जैसा ही अनुभव उन्हें करना ही पड़ेगा, क्योंकि उनका सर्व ज्ञान अनुभव रूप ही है। अन्य स्त्रीस्पर्श का अनुभव करता है तो सर्वज्ञ को भी स्त्रीस्पर्श का अनुभव आ पड़ता है।

एक व्यक्ति के व्यक्तित्व से दूसरी व्यक्ति का व्यक्तित्व पृथक् होने का मुख्य कारण यह है कि एक व्यक्ति के ज्ञान, चेतसिक भाव, अध्यवसाय आदि का साक्षात् अनुभव या संवेदन दूसरी व्यक्ति नहीं कर सकती, यह हकीकत है। अगर इन का संवेदन दूसरी व्यक्ति करे तो वह दूसरी व्यक्ति प्रथम व्यक्ति के व्यक्तित्व को धारण कर ले और एक ही व्यक्ति में दो व्यक्तित्वों का द्वन्द्व (dual personality) हो जाय, जो इष्ट नहीं माना जाता। सर्वज्ञ का ज्ञान अनुभवात्मक अर्थात् साक्षात्कारात्मक होता है और इसी लिए सर्वज्ञ सब जीवव्यक्तियों के ज्ञान, भाव और अध्यवसायों का संवेदन करता है, परिणामस्वरूप उसमें अनन्त व्यक्तियों के व्यक्तित्वों का धारण आ पड़ेगा, वह multi-personality बन जायगा, यह तो अत्यन्त अनिष्ट कहलाता है। जैनों ने सर्वज्ञत्व की जो व्याख्या की है वह किसी भी तरह स्वीकार्य बने ऐसी नहीं है। अत: जैन चिन्तकों ने उस पर पुख्त विचार कर उस व्याख्या को बदल देना चाहिए।

दूसरा, जैनों ने चक्षु इत्यादि इन्द्रियों के बिना रूप आदि का अनुभव करने के लिए सर्वज्ञ की आत्मा के प्रत्येक प्रदेश को, अंश को सर्वाक्षगुणसम्पन्न माना है, तो साथ साथ उनको यह भी मानना पड़ेगा कि सर्वज्ञ की आत्मा सर्व लोक में व्याप्त रहती है, अन्यथा सर्वाक्षगुणसम्पन्न आत्मप्रदेशों द्वारा वे समुचे लोक में व्याप्त रूपी द्रव्यों के सर्व रूप आदि गुणों का अनुभव कैसे कर सकेंगे ? मुक्त सर्वज्ञ को अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून परिमाणवाला होकर सिद्धशिला में विराजमान नहीं होना चाहिए, और मुक्ति पूर्व तो सर्वज्ञ की आत्मा उनके शरीर के परिमाण जितना ही परिमाणवाली होती है, उसके बदले उसको लोकव्यापी परिमाण धारण करना चाहिए। इस तरह ये सब निराधार, विचित्र और परस्पर मेल रहित, तर्क हीन कोरी कल्पनाएँ जैनोंने की हैं। विचारशील जैनोने उनका विरोध करना चाहिए, समर्थन नहीं।

सर्वज्ञत्व का अर्थ क्या होना चाहिए ?

इन सभी आपत्तियों से बचने के लिए सर्वज्ञत्व का अर्थ बदलना आवश्यक है। अर्थ नीचे दिये गये हैं -

(१) जैन धर्मदर्शन अध्यात्मविद्या है, अत: इस अध्यात्म को दृष्टि में रख कर अध्यात्मविद्या के आदर्शरूप पूर्णता पर पहुँचने के लिए जो कुछ जानना आवश्यक है, उन सब को जाननेवाला ज्ञान ही सर्वज्ञत्व। सर्वज्ञत्व का इस प्रकार अर्थ करने से सर्वज्ञत्व और धर्मज्ञत्व दोनों समानार्थक बनेंगे। इस प्रकार अध्यात्मविद्या में धर्मज्ञत्व ही सर्वज्ञत्व है। इस सन्दर्भ में पण्डित सुखलालजी ने जो लिखा है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते हैं : "इसलिए मेरी राय में जैन परम्परा में सर्वज्ञत्व का असली

अर्थ आध्यात्मिक साधना में उपयोगी सब तत्त्वों का ज्ञान यही होना चाहिए, नहीं कि त्रैकालिक समग्र भावों का साक्षात्कार।"[34]

(२) 'सर्व' का एक अर्थ 'अखण्ड' होता है। जो ज्ञान अखण्ड वस्तु को जानता है वह ज्ञान सर्वज्ञ कहा जाता है। अर्थात् जो ज्ञान वस्तु को खण्डशः नहीं अपि तु अखण्ड रूप में जानता है वह ज्ञान सर्वज्ञ। ऐसा ज्ञान शुक्ल ध्यान की एकत्ववितर्क-निर्विचार भूमिका सिद्ध करनेवाले साधकको सम्भवित होता है। अर्थात् शुक्लध्यान की यह कोटि जिसने सिद्ध की हो उसको सर्वज्ञ कहा जा सकता है।

'सर्वज्ञ' शब्द का एक प्राचीन अर्थ ध्यान में रखना रसप्रद है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में वात्स्यायन ने आत्मा को सर्वज्ञ कहा है। प्रत्येक की आत्मा सदा सर्वज्ञ है। चक्षु का विषय मात्र रूप है, श्रोत्र का विषय केवल शब्द है, इत्यादि। चक्षु रूप का ग्रहण करती है, श्रोत्र शब्द को ग्रहण करता है, इत्यादि। परन्तु आत्मा चक्षु द्वारा रूप को, श्रोत्र द्वारा शब्द को, स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा स्पर्श को, रसनेन्द्रिय द्वारा रस को, और घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्ध को, इस प्रकार पाँचों को ग्रहण करती है, अतः आत्मा सर्वज्ञ है। इस प्रकार आत्मा का इन्द्रिय से भेद है। इन्द्रियाँ एक एक नियत विषय को ग्रहण करती हैं जब कि आत्मा सर्व (रूप आदि पाँचों) विषय को ग्रहण करती है।[35]

उपसंहार

समग्र चर्चा पर से इतना तो स्पष्ट है कि केवलज्ञान के उपर सर्वज्ञत्व का आरोप आसपास के वातावरण के दबाव में आ कर किया गया है। दूसरा, सर्वज्ञत्व में से आत्यन्तिक नियतिवाद नितान्त फलित होता है इस लिए साधना और कर्मसिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले सर्वज्ञत्व का स्वीकार नहीं कर सकते, नहीं करना चाहिए। उपरान्त, सर्वज्ञत्व के स्वीकार में अनेक तार्किक दोष और आपत्तियाँ हैं। अतः केवलज्ञान पर से सर्वज्ञत्व का आरोप दूर कर के केवलज्ञान को रागरहित विशुद्ध ज्ञान, आत्मज्ञान या धर्मज्ञान के रूप में ही समझना चाहिए।

टिप्पण

1. एकत्ववितर्काविचारध्यानबलेन निःशेषतया ज्ञानावरणादीनां घातिकर्मणां प्रक्षये सति... 'केवलम्' इत्यागमे प्रसिद्धम्। **प्रमाणमीमांसास्वोपज्ञवृत्ति**, १.१.१५.

   मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। **तत्त्वार्थसूत्र**, १०.१

   मोहक्षयादिति पृथक्करणं क्रमप्रसिद्ध्यर्थम्। यथा गम्येत पूर्वं मोहनीयं कृत्स्नं क्षीयते। ततोऽन्तर्मुहूर्तं छद्मस्थवीतरागो भवति। ततोऽस्य ज्ञानदर्शनावरणान्तरायप्रकृतीनां तिसृणां युगपत् क्षयो भवति। **तत्त्वार्थभाष्य**, १०.१.

2. **तत्त्वार्थसूत्र**, १.९-१२. अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम् । **सर्वार्थसिद्धि**, १.१२.
3. सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥ **प्रवचनसार**, १.२१
4. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । **तत्त्वार्थसूत्र**, १.२९.
5. जो ण विजाणादि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
   णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ **प्रवचनसार**, १.४८
6. णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
   अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥ **प्रवचनसार**, १.२२
7. प्रज्ञायाः अतिशयः तारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तम्, अतिशयत्वात्, परिमाणातिशयवत् । **प्रमाणमीमांसावृत्ति**, १.१.१६.
8. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा ।
   अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ **आप्तमीमांसा**, श्लोक ५
9. धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत् पुंसां कुतः पुनः ।
   ज्यातिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत् साधनान्तरम् ॥ **सिद्धिविनिश्चयटीका**, पृ. ५२६
10. अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् । वही, पृ. ५३७
11. **जैन दर्शन**, महेन्द्रकुमार, पृ. ३१३.
12. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः । **योगसूत्र**, १.५.
13. केवल निजस्वभावनुं अखण्ड वर्ते ज्ञान;
    कहीए केवळज्ञान ते देह छतां निर्वाण ॥ **आत्मसिद्धिशास्त्र**, गाथा ११३
14. ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणयो । **समयसार**, १३
15. भयभेखसुत्त, **मज्झिमनिकाय** (म.नि.)
16. तेविज्जवच्छसुत्त, म.नि.
17. *History of Buddhist Thought*, E. J. Thomas, p. 149.
18. *Studies in the Origins of Buddhism*, G. C. Pande, 1983, p. 458 fn. 77
19. ... सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधिः । **योगसूत्र**, ४.२९.
20. तद्धर्ममेघाख्यं ध्यानं परमं प्रसङ्ख्यानं विवेकख्यातेरेव पराकाष्ठा इति योगिनो वदन्ति । **योगवार्तिक**, १.२
21. ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः । **योगसूत्र**, ४.३०
    तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति, कुशला अकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति, क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति । **योगभाष्य**, ४.३०.
22. तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् । **योगसूत्र**, ३.५४.
    सर्वविषयत्वान्नास्य किञ्चिदविषयीभूतमित्यर्थः । सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्वं पर्यायैः सर्वथा जानातीत्यर्थः । अक्रममित्येकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा ग्रहणातीत्यर्थः । एतद् विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम् । **योगभाष्य**, ३.५४

23. क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम् । **योगसूत्र** ३.५२.
24. कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः । **योगभाष्य,** १.२४
25. ....प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिकः उत्कर्षः... । वही, १.२४
26. एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा । **योगभाष्य,** ३.५५.
27. अधर्म-मिथ्याज्ञान-प्रमादहान्या धर्म-ज्ञान-समाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः । **न्यायभाष्य,** ४.१.२१.
28. बहिश्च विविक्तचित्तो विहरन्मुक्त इत्युच्यते । **न्यायभाष्य,** ४.१.६४
29. योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु युगपद् ज्ञेयानि उपलभते । **न्यायभाष्य,** ३.२.१९.

    जयन्त भट्ट के वचन इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य हैं: योगी हि योगर्द्धिसिद्ध्या विहितनिखिलनिजधर्माधर्मकर्मा निर्माय तदुपभोगयोग्यानि तेषु तेषूपपत्तिस्थानेषु तानि तानि सेन्द्रियाणि शरीराणि, खण्डान्तःकरणानि च मुक्तैरात्माभिरुपेक्षितानि गृहीत्वा सकलकर्मफलमनुभवति प्राप्तैश्वर्यः ... । **न्यायमञ्जरी,** काशी संस्कृत सिरिझ, भा. २, पृ. ८८
30. **भगवतीसूत्र,** अभयदेव टीका सहित, मुंबई १९१८-२१, पृ. ६२.
31. तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः वैफल्याद् वक्ति नानृतम् ।
    दयालुत्वात् परार्थं च सर्वारम्भाभियोगतः ।
    तस्मात् प्रमाणं तायो वा चतुःसत्यप्रकाशनम् ॥ **प्रमाणवार्त्तिक,** १.१४७-४८
32. तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
    कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥
    हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
    यः प्रमाणमसाविष्टः न तु सर्वस्य वेदकः ॥
    दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
    प्रमाणं दूरदर्शी चेदेतद् गृघ्रानुपास्महे ॥ **प्रमाणवार्तिक,** १.३३-३५
33. **चंदावेज्झयपईण्णयं,** गाथा ६४-६६ (**पईण्णयसुत्ताई,** भाग १, महावीर जैन विद्यालय संस्करण)
34. **दर्शन और चिन्तन,** पृ. ५५६
35. यस्मात् तु व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि तस्मात् तेभ्योऽन्यः चेतनः सर्वज्ञः सर्वविषयग्राही विषयव्यवस्थिमतीतोऽनुमीयते । **न्यायभाष्य,** ३.१.३

सामान्यसूची

अकलंक, 41, 43
अक्लिष्टचित्तवृत्ति, और केवलज्ञान 50
अजीव, 16-17
अधर्मद्रव्य, 17
अधिगमज श्रद्धा, 9-12
अध्यात्मप्रसाद, 9, 21n
अध्यात्मविद्या, 4
अनन्तज्ञान, 9, 49, 59
अनन्तसुख, 20, 49, 59
अनात्मवादी, 13
अनुकम्पा, 11
अनुप्रेक्षा, 19
अनुभावबन्ध, 18
अनुमान, 28, 31, 41-42, के प्रकार 42-43, के अवयव 43
अनुयोगद्वारसूत्र, 41
अनेकान्तवादी, 3-4
अभिजाति, 15
अभिनिबोध, 27-28
अभिधर्मकोशभाष्य, 6
अभिधर्मदीपवृत्ति, 6
अयंपुल, 55
अर्थ, 35-36
अर्थावग्रह, 35-36
अलोकाकाश, 17
अवग्रह, 31-32, 34,
अवग्रहादि, मनन की भूमिकाएँ, 33-34, और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, 33, के बहुग्राही आदि भेद, 34
अवधिज्ञान, 26
अवाय, 31-32, 34, संदिग्धग्राही, 34
अवेच्चप्पसादा, 8
अस्तिकाय, 17
'आकार' शब्दका अर्थ, 8
आकाशद्रव्य, 17
आचारांगसूत्र, 5
आजीविक, 15
आत्मद्रव्य (जैन), और चित्तसन्तान (बौद्ध), 14
आत्मवादी, 13
आत्मसाक्षात्कार, 4
आत्मा, 12-16, का स्वभाव 13-4, की परिणामिता 14, का कर्तृत्व 14, का भोक्तृत्व 14, प्रतिक्षेत्र भिन्न 15, देहपरिमाण 15, पौद्गलिकादृष्टवान् 15, और कर्म का सम्बन्ध 15-16,
आदिनाथ, 3
आध्यात्मिक चार सोपान, 4, 26-27, 29-30, और बौद्ध 4-5, और जैन रत्नत्रयी, 5-6
आनंदघनजी, 3
आर्य अष्टांगिक मार्ग, 6
आर्यसत्य, 12
आलार कालाम, 53
आस्तिक्य, 12
आस्रव, 18
इन्द्रियप्रत्यक्ष, 30-36, 38

इन्द्रियार्थसन्निकर्षावग्रह, 36
इर्यापथिक कर्मबन्ध, 18
ईश्वर, 54-56
ईश्वरकृष्ण, 53
ईहा, 31-32, 34
उपनिषद्, 3, 7, 10, 26, 51
उपनिषद्विद्या, 4
उपमान, 40
उपाध्ये, ए.एन., 16
उमास्वाति 11, 30-31, 34, 37
ऊह 28
ऋग्वेद, 2
ऋषभदेव 2-3
एकत्ववितर्काविचारशुक्लध्यान, 47
कठोपनिषद्, 13
कर्म, और आत्मा का सम्बन्ध, 15-16, पौद्गलिक, 15-16, के रंग, 15
कर्मसिद्धान्त, सर्वज्ञत्व का विरोधी 57-59
कषाय, 18-19
कार्ल मार्क्स, 4
कालद्रव्य, 17
कालाम, 7
कुन्दकुन्द, 51
कुमारिल, 56
केवलज्ञान, 26, सर्वज्ञत्व के साथ अभेद, 47, विशुद्ध ज्ञान, 50, अक्लिष्टचित्तवृत्ति के साथ अभेद, 50, विषयाकारशून्य ज्ञान, 50, केवल आत्मा का ज्ञान, 51
केवलिज्ञान, 26
क्षण, 17, और पर्याय, 13
क्षणिकवाद, 13
गुप्ति, 19
गुरु, 7
गोशालक, 55, 58
गौतम (न्यायसूत्रकार), 55
ग्रन्थि, 1-2
ग्रन्थिभेद, 9
चक्रधर, 2
चतुर्व्यूह, 12
चार्वाक, 4
चित्त, और जैन आत्मा, 13, 15
चित्तप्रसाद, 8-9
चित्तशुद्धि, 6-9
चित्तवृत्ति, 50, 55
चिन्ता, 27-28
चेतोपर्यज्ञान, 26
छान्दोग्योपनिषद्, 4
जिन, 1
जीव, 12-16
जीवन्मुक्त, 54-55
जीवरंग, 15
जीववर्ण, 15
जैन आगम, 2-3
जैन धर्मसम्प्रदाय, 1-3
जैन सात तत्त्व, 12-13
ज्ञाताधर्मकथा, 33
ज्ञातृपुत्र, 3
झीमर, प्राध्यापक, 15
तत्त्वज्ञान 3

तत्त्वसंग्रह, 7, 53, 56
तत्त्वार्थसूत्र, 27, 31
तत्त्वार्थसूत्रभाष्य, 11, 36
तप, 19
तर्क, 7-8, 28, 31, 40-41
तारकज्ञान, 54
तीर्थंकर, 1-3
दर्शन, 4-5, 9, 13
दर्शनमोहनीय कर्म, 9
दशवैकालिकनिर्युक्ति, 41
दसबल, 52
दिव्यचक्षुज्ञान, 26
दृष्टिराग, 6, 11
देवगुप्त, आचार्य, 11
द्रव्य, और सन्तान, 13
द्रव्यगुणपर्यायरास, 13
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, 8
धर्म, 19, 56
धर्मकीर्ति, 56-57
धर्मज्ञत्व, 56-57, 61-62
धर्ममेघसमाधि, 9, 54
धर्मद्रव्य, 17
धवलाटीका, 12
धारणा, 28, 31-32, 34
धारावाही प्रत्यक्ष, 32
नग्नता, 2
नन्दिसूत्र, 27
नागसेन, 53
नाथसम्प्रदाय, 3
नित्य, 14
निदिध्यासन, 4-6
नियति, 59
नियतिवाद, और कर्मसिद्धान्त, 57-58,
और सर्वज्ञत्व, 57-59
नियमसार, 51
निरावरणज्ञान, 59
निर्जरा, 19
निर्ग्रन्थ, 1-2
निर्मोही, और ज्ञान, 60
निर्विकल्प प्रत्यक्ष, 30-31
निर्वितर्कनिर्विचारात्मक ध्यान 8
निर्वेद, 11
निश्चयनय, 51
नैश्चयिक श्रद्धा, 11
नैसर्गिक श्रद्धा, 9-12
न्यायमंजरी, 2
न्यायमंजरीग्रंथिभंग, 2
न्याय-वैशेषिकदर्शन, 62
न्याय-वैशेषिक परम्परा, 55
न्यायसूत्र, 55
न्यायावतार, 41
पतंजलि, 53
परचित्तज्ञान, 26
परमाणु, 16-17
परमाणुवाद, 16-17
पराचित्तशास्त्र, 44
परीषहजय, 19
पर्याय, और क्षण, 13
पर्शु (जाति), 3
पाणिनि, 3

पातंजलयोग, 9, 15, 26, 50, 56
पार्श्वनाथ, 3
पिटक, 1-2
पुद्गल, 16-17
पूज्यपाद, 5, 10, 26
प्रकृति, 55
प्रकृतिबन्ध, 18
प्रत्यक्ष, 30-36, 38, 44
प्रत्यभिज्ञा, 28, 31, 39-40
प्रदेश, 16-17
प्रमाणलक्षण, 37
प्रमाणमीमांसा, 47
प्रमाणमीमांसास्वोपज्ञवृत्ति, 28
प्रशम, 11
प्रशस्तपाद, 55
प्रसाद, 6, 21-22
प्रसंख्यान, 9
प्राप्यकारित्व-अप्राप्यकारित्व, 36
बन्ध, 18-19
बुद्ध, 3, 7, 52-53, 56
बृहदारण्यकोपनिषद्, 4-5
बौद्धधर्मदर्शन, और चार सोपान, 4-5
बौद्धपरम्परा, और सर्वज्ञत्व, 51-53
भगवतीसूत्र, 41, 55
भगवद्गीता, 10
भागवत, 2
मज्झिमनिकाय, 4, 52
'मति', का अर्थ, 26
मति, और मनन, 5, 26-30, 37
मति (इन्द्रियप्रत्यक्ष), 28
मतिज्ञान, 26, के प्रकार, 27, इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति आदि को मतिज्ञान के एक ही वर्ग में रखने का कारण, 29, में श्रुत का समावेश क्यों नहीं, 29-30, का निमित्तकारण, 30-31, के अवग्रहादि भेद, 31-32, का विषय, 36-37, और श्रुतज्ञान, 36-37
मतिप्रकार, परोक्षप्रमाण, 38
मन, 13, 37
मनन, 4, काम हत्त्व, 7-8, का मतिज्ञान में परिवर्तन, 26-30, का निमित्तकारण, 31, और अवग्रहादि भेद, 33-34, और अर्थावगह 35-36,
मनःपर्यायज्ञान, 26
महाभारत, 15
महावीर, 3, 55, 58-59
महेन्द्रकुमार, जैन, 28
महेश्वर, 55
मिलिन्दपश्न, 53
मोहनीय कर्म, 47
मोक्ष, 12, 19-20
यशोविजयजी, उपाध्याय, 11, 13
योग (प्रवृत्ति), 18
योगभाष्य, 12
योगभाष्यकार, 56
योगसूत्र, 53
योगिज्ञान, 26
रसबन्ध, 18-19
राजचन्द्र, श्रीमद्, 51

रुद्रक रामपुत्र, 53
लेश्या, 15
लोक, 17
लोकाकाश, 17
वातरशना मुनि, 2
वात्स्यायन (न्यायभाष्यकार), 55, 62
वादिदेवसूरि, 13
विज्ञानवादी, 51
विदेहमुक्त, 54-55
विद्या, तीन, 51, दस, 52
विवरणप्रमेयसंग्रह, 4
विवेकख्याति, 53-54
वीतराग, और सर्वज्ञत्व, 50
वेद, 56
वैदिक परम्परा, 56
वैशारद्य, 22
व्यवहारनय, 51
व्यंजन, का अर्थ, 35-36
व्यंजनावग्रह, 35-36
व्याप्ति, 42
व्यावहारिक श्रद्धा, 11
व्यास (योगभाष्यकार), 54
व्रत, 19
षट्खंडागम, 12
षड्दर्शन, 4
शब्दग्रहण, 35
शब्दार्थग्रहण, 35
शाक्यपुत्र, 3
शान्तरक्षित, 7, 53
शुक्लध्यान, 9, 26, 47
शेरबाट्स्की, 15
शैव-पाशुपत सम्प्रदाय, 55
श्रद्धा, 4, 6-21, की बौद्ध व्याख्या, 6 निराकार, 6, साकार, 7, आकारवती, 8, और ज्ञान, 9, और गुरूपदेश, 9, की भूमिकाएँ, 6-9, श्रवण का कारण, 37, के विषय (जैनमत), 12-20, के पांच लिङ्ग (जैनमत)
श्रमण, 2
श्रमणसम्प्रदाय, 1-2
श्रमणपरम्परा, 56
श्रवण, 4, 33, 37, मनन की प्रतिष्ठा, 8,
श्रुत, मन का विषय, 37
श्रुतज्ञान, 26, और श्रवण, 5, का विषय, 36-37
सन्तान, और द्रव्य, 13
समय, 17
समिति, 19
सम्मादिट्ठि, 6
सम्यक्त्व, 11
सर्वज्ञत्व, का केवलज्ञान से अभेद, 47, की सिद्धि, 47-48, सिद्धि के तर्कों का खोखलापन, 48-49, बौद्ध परम्परा में, 51-53, सांख्य-योग परम्परा में, 53-55, न्याय-वैशेषिक परम्परा में, 55-56, आजीविक परम्परा में, 55, और मीमांसा, 56, के साथ कर्मसिद्धान्त का विरोध, 57-59, और आत्यंतिक नियतिवाद, 57-

59, और धर्मज्ञत्व, 61-62, और आत्मज्ञत्व, 50-51, में तर्कदोष, 60-61, के विविध अर्थ, 61-62, और जीवन्मुक्त, 54
सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थटीका), 5, 10
सविकल्प प्रत्यक्ष, 30-31
सवितर्कसविचारात्मक ध्यान, 8
संज्ञा, 27-28
संयम, 54
संवर, 19, के उपाय, 19
संवेग, 11
संसार, 12
सांख्य, 15
सांख्यकारिका, 53
सांख्यचिन्तक, और चित्त का संकोच-विकास, 15
सांपरायिक कर्मबन्ध, 18
सिद्ध, 2-3, अन्यलिंग, 2
सिद्धशिला, 61
सिद्धसेनगणि, 28, 31, 36-36, 41
सिद्धसेन दिवाकर, 7, 41
सील, बी. एन., 16
सुखलालजी, पंडित, 28, 61
सुत्तनिपात, 5
स्कंध, 16
स्थानांगसूत्र, 41
स्थितिबन्ध, 18-19
स्फुटार्था, 6
स्मृति, 27-28, 31, 38-39
हरिभद्र, 7
हिन्दु पुराण, 3
हेतुप्रकार, 43
हेतुलक्षण, 43
हेत्वाभास, 43
हेमचन्द्राचार्य, 6, 28, 43, 47

SANSKRIT-SANSKRITI GRANTHAMĀLĀ
GENERAL EDITOR
NAGIN J. SHAH

Publications

1. A Study of Jayanata Bhaṭṭa's Nyāyamañjari, A Mature Sanskrit Work on INDIAN LOGIC Part I by Nagin J. Shah (1993) — Rs. 90=00
2. Jaina-Darśana ane Sāṅkhya-Yoga-māṁ Jñāna-Darśana Vicāraṇā (Gujarati) by J. D. Sheth (1994) — Rs. 150=00
3. A Study of Jayanta Bhaṭṭa's Nyāyamañjarī on INDIAN LOGIC Part II by Nagin J. Shah (1995) — Rs. 225=00
4. A Study of Jayanta Bhaṭṭa's Nyāyamañjarī on INDIAN LOGIC Part III by Nagin J. Shah (1997) — Rs. 198=00
5. Bhāratīya Tattvajñāna - Keṭalika samasyā (Gujarati) by Nagin J. Shah (1998) — Rs.99=00
6. Essays in Indian Philosophy by Nagin J. Shah (1998) — Rs. 120=00
7. Samantabhadra's Āptamīmāṁsā - Critique of An Authority (along with English translation, notes and Akalaṅka's Sanskrit Commentary Aṣṭaśatī) by Nagin J. Shah (1999) — Rs. 108=00
8. जैनदर्शन में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन), मतिज्ञान और केवलज्ञान की विभावना लेखक नगीन जी. शाह (२०००) — Rs. 50=00

About A study of Nyāyamañjarī

"The book under review is a mature contribution of a mature scholar." Prof. V. N. Jha, Director, Centre of Advanced Studies in Sanskrit, Poona University, in Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute. LXXVI.

"This is just an illustration of how interesting and revealing is the study which Dr. Shah has presented not only from a logical but also from a cultural point of view. Dr. Shah has presented an important text in its wide ranging context with full mastery. He is at home in the different philosophical schools discussed, and his mastery of the language and tradition of Nyāya and Buddhism enables him to create before the reader a fascinating panorama of ancient philosophical discussion. ...His work will undoubtedly remain a standard work of reference for a long time to come." - Prof. G.C. Pande. Former Vicechancellor Universities of Rajasthan and Allahabad, in Journal of the Asiatic Society of Bombay Volume 72 (1997).

"Dr. Shah has meticulously followed each and every point presented in NM. It is indeed a comprehensive study of NM for the first time and provides a fascinating reading." - Prof. Vasant Parikh in Journal of the Oriental Institute, Baroda, Vol. 45 Nos 3-4

"...The work has a clear style and can be recommended to advanced students before tackling the original work of Jayanta himself." Prof. Kerel Werner in Bulletin of the School of Oriental and African Studies, University of London.

About Essays in Indian Philosophy

"The author is critical, unbiased and he quite often gives unorthodox and controversial solutions. This, to my mind, is the strength of the book and it is for this questioning nature of the discussion and unorthodox character of its conclusions supported by sound evidence from the original sources that I would like to recommend this book to the advanced students and scholars of the classical Indian Philosophy." Prof. S. S. Antarkar in Journal of the Asiatic Society of Bombay Volume 74 (1999).

About Samantabhadra's Āptamīmāṁsā – Critique of an Authority

"Prof. Dr. Nagin J. Shah ... has now brought out Samantabhadra's *Āptamīmāṁsā* along with English translation, introduction, Notes-comments and Akalaṅka's Sanskrit commentary *Aṣṭaśatī*. He has rightly selected the Āptamīmāṁsā for his scholarly treatment as Samantabhadra's work served as a model for later Jaina thinkers and writers while criticising what they considered one-sided philosophical views. In the Introduction Dr. N. J. Shah has made a detailed and objective survey of Nayavāda and Anekāntavāda and their evaluation of other philosophical views. ...Dr. Shah has fully appreciated the force of Samantabhadra's arguments and shown the importance of his contribution to Jaina logic and philosophy. At the same time Dr. Shah has not hesitated to point out the anomaly in the arguments advanced by the author wherever he has noticed it." Prof. Esther A. Solomon in Journal of the Asiatic Society of Bombay Volume 74 (1999).

■

लेखक परिचय

डॉ. नगीनदास जीवनलाल शाह का जन्म सन 1931 में सुरेन्द्रनगर जिले के सायला शहर में हुआ था। वे एल.डी. इन्स्टिटयूट ऑफ इन्डोलोजी (अहमदाबाद) के अध्यक्षपद पर थे। अब निवृत्त हैं। आप संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान हैं। भारतीय तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में आप का प्रदान बहुमूल्य है। आप के द्वारा पं. सुखलालजी के मार्गदर्शन में तैयार किया एवं गुजरात युनिवर्सिटी द्वारा मान्य महानिबन्ध *Akalaṅka's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy - A Study* 1968 में प्रकाशित हुआ है, जिसकी आन्तरराष्ट्रीय विद्वानों ने भूरि प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त आंग्ल भाषा में आप ने तीन बहुमूल्य एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना कर दार्शनिक जगत की अनुपम सेवा की है। ये तीन ग्रन्थ है : *(1) A Study of Nyāyamañjarī, a Mature Sanskrit Work on INDIAN LOGIC* (in three parts), *(2) Essays in Indian Philosophy* and *(3) Samantabhadra's Āptamīmāṁsā – Critique of an Authority.* इसके अतिरिक्त आपने मुनिश्री न्यायविजयजी का विशालकाय प्रसिद्ध गुजराती ग्रंथ 'जैनदर्शन' का विशद अंग्रेजी अनुवाद *(Jaina Philosophy and Religion)* किया है। आपने गुजराती में **(१) साङ्ख्ययोग, (२) न्याय-वैशेषिक, (३) बौद्धधर्मदर्शन, (४) भारतीय तत्त्वज्ञान-केटलीक समस्या** जैसे चार चिन्तनप्रधान ग्रन्थ लिखकर दार्शनिकों की बडी प्रीति सम्पादन की है। साथ ही आप के द्वारा किया गया संस्कृत ग्रंथ न्यायमञ्जरी का गुजराती अनुवाद (पांच भागों में) भारतीय तत्त्वज्ञान के गुजरातीभाषी अध्यापकों और अध्येताओं को अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। तदुपरान्त, न्यायमञ्जरी की हस्तप्रत में उपलब्ध एक मात्र टीका न्यायमञ्जरीग्रन्थिभङ्ग जो अब तक अप्रकाशित थी उसका आपने उच्चस्तरीय सम्पादन संशोधन किया जिसे ला.द. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर ने प्रकाशित किया है। महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्यजी की *Basic Conception of Buddhism* नामक पुस्तक का विशद गुजराती अनुवाद भी आपने दिया है। निवृत्ति के बाद भी आप सदैव मनन-चिन्तनशील दार्शनिक ग्रन्थों का लेखन सम्पादन एवं अनुवाद का कार्य कर रहे हैं। आपने स्वतन्त्र रूप से संस्कृत-संस्कृति ग्रन्थमाला की स्थापना की है। इस ग्रन्थमाला से आपके द्वारा निर्मित आठ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।